श्रीमते रामानुजाय नमः   श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद—श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

हिन्दी श्रीभाष्य

[चतुर्थ भाग]

सम्पादक:- जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्य जी महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य एम० ए० (द्वय)

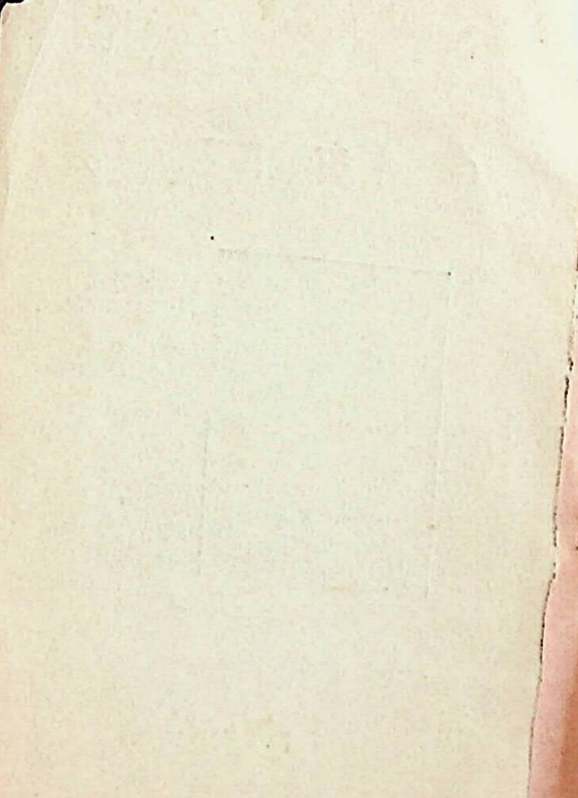
वेदान्त विभागाध्यक्ष, श्रीहनुमत् सं० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति   मूल्य   कार्तिक पूर्णिमा

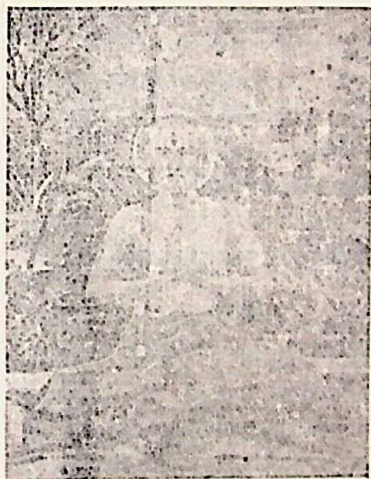
२०००   ४) रुपया   २०३४ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक्



—:(स म र्प ण):—

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्य उभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपके ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की की महामाला के इस चतुर्थ पुष्प को २०३४ वर्षीय कार्तिक पूर्णिमा के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्रीचरणों को समर्पण करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्पादपद्मपरागलिप्सु

श्रीधराचार्य

शिवप्रसाद द्विवेदी

श्याम सदन, कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

—[विषय सूची]—

पृष्ठ संख्या

: श्री :

पूर्वाभास

श्रीभाष्याब्धौ गभीरे कथयितुमखिलं,

कः प्रवीणः प्रमेयम् ।

यं यं वक्ष्यत्र भावं कमपि गुणमयं,

तं मदीयं न ज्ञेयम् ।

श्री विष्वक्सेनसूरेः पदनखकिरणैः,

निर्गते सुप्रकाशे ।

यान् यान् पश्यामि भावान् शुभगण सहितान्

तान् हि वक्ष्यत्र नान्यत् ॥१॥

दोषा मदीयाः सुगुणैः मिलित्वा,

श्री विष्वगार्यस्य गुरोर्दयालोः ।

लक्ष्मेव चन्द्रस्य विभान्तु कामम्,

श्री भाष्य व्याख्याकरणे मदीये ॥२॥

हिन्दी श्री भाष्य के इस चतुर्थ भाग का उपक्रम पराविद्या के विवेचन से होता है। महापूर्व पक्ष के प्रारम्भ में अद्वैती विद्वानों ने कहा है कि पराविद्या में 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इस श्रुति से प्रारम्भ करके 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम

वर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।' इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। इन श्रुतियों के पदों को क्रमशः ब्रह्म को चक्षुरादि इन्द्रियों तथा अनुमानादि प्रमाणान्तरों का अविषय नाम एवं वर्ण से रहित, नेत्रश्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों तथा हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों से रहित रूप से प्रतिपादन करने में तात्पर्य है। इसी ब्रह्म का ,सत्यंज्ञानम्' इत्यादि श्रुतियाँ स्वेतर समस्त प्रत्यनीक रूप से प्रतिपादन करती हैं। यही नहीं स्मृतियों तथा श्री विष्णुपुराण के अनेक ऐसे तत्त्वनिर्णायक स्थान हैं जो निर्विशेष वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। अतएव सभी शास्त्रों का तात्पर्य अभेद ज्ञान के प्रतिपादन में समझना चाहिये। अत्मैकत्व विज्ञान के आपादक शास्त्रों में ब्रह्म व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च का मिथ्यात्व प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए भगवत्पाद् श्रीरामानुजाचार्य का कहना है कि पराविद्या के उपर्युक्त श्रुति के अर्थ का पर्यालोचन नहीं करने के ही कारण अद्वैती विद्वान उपर्युक्त तरह की बातें किया करते हैं। पराविद्या भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है। अपने कथन की पुष्टि करते हुये आपने कहा- कि 'अथ परा यया' इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होने वाली पराविद्या भी ब्रह्म के सविशेषत्व का ही प्रतिपादन करती है। इस प्रकरण में ब्रह्म में सभी प्राकृतिक गुणों का अभाव वतलाकर उसमें नित्यत्व, विभुत्व सूक्ष्मत्व जगत् के प्रति अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्व का प्रतिपादन किया गया है।

'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म' यह वाक्य भी ब्रह्म को अनेक विशेषरण विशिष्ट रूप से वतलाता हैं। क्योंकि यह सामानाधिकरण्य वाक्य है और सामानाधिकरण्य वाक्य का यह स्वभाव होता है कि वे भिन्न-भिन्न प्रवृति निमित्त वाले पदों के द्वारा अनेक विशेषरण विशिष्ट एक ही वस्तु का प्रतिपादन करते हैं।

जैसा कि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि सत्यं ज्ञानमित्यादि वाक्य अखिल प्रत्यनीक रूप से ब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया करते हैं, तो उनका उक्त कथन इसलिए युक्ति संगत नहीं है कि यदि एक ही पद के द्वारा स्वरूपावगति हो ही गयी तो फिर उससे भिन्न पदों के प्रयोग का प्रयोजन क्या होगा ? दूसरी वात यह है कि सत्यम् पद का सत्यत्वावच्छिन्न रूप अर्थ मुख्या-वृत्ति से ही निर्गत होता है, यदि सत्यम् पद का अलोक प्रत्यनीक रूप अर्थ स्वीकार किया जाय तो फिर इस अर्थ को तो मुख्या-वृत्तिजन्य नहीं ही मानना होगा, उसके लिए लक्षरणावृत्ति ही स्वीकार करनी होगी। और शब्द की लक्षरणावृत्ति दार्शनिक गोष्ठी में जघन्यावृत्ति मानी जाती है, अतएव लक्ष्यार्थ की अपेक्षा मुख्यार्थ को स्वीकार करना अधिक उचित होगा।

तीसरी वात यह है कि लक्षरणावृत्ति की प्रवृति के लिए कुछ कारण होते हैं। उन कारणों में—१—मुख्यार्थ का वाध, २—मुख्यार्थ का योग तथा ३— रुढि अथवा प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का सद्भाव होना अनिवार्य होता है। इन सवों में से मुख्यार्थ का वाध होना लक्षरणावृत्ति की प्रवृत्ति की सामग्रीकूट में प्रवान

है। किन्तु मुख्यार्थ का बाध भी तब होता है जबकि वाक्यार्थ में तात्पर्यानुपपत्ति हो। तात्पर्यानुपपत्ति के अभाव में मुख्यार्थ का बाध होना असंभव है।

यद्यपि कुछ विद्वानों के अनुसार 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्य में मुख्यार्थ बाध अन्वयानुपपत्ति के ही कारण होता है किन्तु परमार्थ पर्यालोचकों का दृढ़ निश्चय है कि वहाँ पर भी काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम् इत्यादि के समान तात्पर्यानुपपत्ति का सद्भाव ही लक्षणा की प्रवृत्ति का प्रयोजक मानना चाहिए।

प्रस्तुत 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य में मुख्यार्थ के बाध का कोई प्रयोजक नहीं प्रतीत होता है अतएव यहाँ पर लक्षणावृत्ति की न तो प्रवृत्ति ही स्वीकार की जा सकती है और न तो लक्ष्यार्थ ही।

इसी तरह अद्वितीय श्रुति यह बतलाती है कि ब्रह्म को छोड़ कर कोई दूसरा जगत् का निमित्त कारण नहीं, ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। 'निष्कलं' 'निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में प्राकृतिक हेय गुणों का अभाव बतलाकर उनमें दिव्य गुणों का सद्भाव बतलाती हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' यह श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं को समान एवं विशेष रूप से जानता है। तैत्तिरीयोपनिषत् की 'ते ये शतम्' इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक चक्रवर्ती सम्राट् के सुखों की कल्पना करके उसके पश्चात् ब्रह्मा पर्यन्त एक से बढ़कर एक बड़े पुरुष की कल्पना करके कहा— ब्रह्म के सो सुखों की कल्पना

द्वारा ब्रह्म के एक आनन्द के अंश की सीमा के ज्ञान की कल्पना करने का असफल प्रयास करती हैं। और अन्त में तैत्तिरीय श्रुति यही निर्णय देती है कि–

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।'

अर्थात् ब्रह्म के जिस आनन्द की सीमा तक पहुँचने के प्रयास में असफल मन के साथ वाणी थककर लौट जाती है ब्रह्म के उस आनन्द के आनन्त्य को जानने वाला जीव अकुतोभय हो जाता है। वह मुक्तात्मा होकर ब्रह्म के साथ ही सारे अभिलषित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'यतो वाचो निवर्तन्ते' श्रुति का अभिप्राय ब्रह्म के अवाच्यत्व एवं अवेद्यत्व के प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता है क्योंकि वैसा मानने पर श्रुति में पूर्वा पर विरोध होगा। आगे की श्रुति स्पष्ट रूप से ब्रह्म के आनन्द को ज्ञान का विषय बतलाती हुई कहती है, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' यही नहीं 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति ब्रह्म के ज्ञान विषयता का प्रतिपादन करती हुई बतलाती है कि ब्रह्म को जानने वाला मुक्तात्मा यथाक्रतु न्याय से ब्रह्म के बिल्कुल समान ही स्वरूप, रूप, गुण एवं विभूति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मैव पद का विग्रह ब्रह्म+आ+इव समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही श्रुति के प्रकरण स्वारस्य की सुरक्षा संभव है।

यह नियम है कि श्रुति के समुचित अभिप्राय का उपबृंहण विभिन्न तत्त्व वेत्ताओं ने भिन्न स्मृतियों एवं पुराणों के प्रणयन के द्वारा किया है। स्मृतियाँ परंब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण बतलाकर उसके कल्याण गुण सम्पन्न दिव्य मङ्गल विग्रह के उपास्यत्व का प्रतिपादन करती हैं।

"यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं साभ्रान्तिः सा च विक्रिया॥"

यह सूक्ति बतलाती है कि जीवन की पूर्ण सफलता इसी में है कि प्रत्येक क्षण में भगवान् वासुदेव के स्वरूप गुण विभूति का चिन्तन किया जाय। परमात्म-चिन्तन किये विना जीवन का जो समय बीत गया उसे जीवन की सबसे बड़ी क्षति भ्रान्ति, एवं विकार समझना चाहिये।

श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में तीन दिव्य रत्नों की मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। वे हैं– (१) मन्त्र रत्न, (२) स्तोत्र रत्न एवं (३) पुराण रत्न। इनमें पुराण रत्न श्री विष्णु पुराण को कहते हैं। श्री विष्णुपुराण पुराण संहिता है यह श्री विष्णु पुराण के "पुराण संहिता कर्ता भवान् वत्स भविष्यति।" इस वाक्य से ही सिद्ध हो जाता है। (१।१।२६)

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसे सभी आचार्यों ने अपने-अपने कथ्य की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है। श्री शंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य ये दोनों आचार्य इस पुराण को अपने भाष्यों में स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं। समालोचकों

की दृष्टि में यह प्राचीनतम पुराण है। भाषा की दृष्टि से यह जितना ही सरल है अर्थ की दृष्टि से इस पुराण का उतना ही अधिक महत्त्व है। तत्त्वों का जितना अधिक सूक्ष्म, वास्तविक रूप में एवं क्रमशः विवेचन श्री विष्णु पुराण में हुआ है उतना अन्यत्र प्राप्त होना असंभव है।

श्री विष्णुपुराण के उपक्रम में तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा प्रकट करते हुए श्रद्धावनत श्री मैत्रेय पूछते हैं–

"सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्।
बभूवभूयश्च यथा महाभाग भविष्यति।
यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीनमासीद् यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥"

मैत्रेय के इस प्रश्न का आशय है कि भगवन्! आप सभी धर्मों को जानकार है। धर्मज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में पुत्र और शिष्य में कोई अन्तर नहीं होता अतएव वे अपने शिष्यों को समक्ष गुह्यतम रहस्यों का भी उद्घाटन किया करते हैं। मैं आपका शिष्य हूँ आप ने ही मुझे सभी विद्याओं का ज्ञान प्रदान किया है, अतएव मैं आप से ही यह जानना चाहता हूँ कि जगत् का कारण कौन है तथा जगत् ब्रह्म का विवर्त है अथवा परिणाम? यदि परिणाम भी है तो सद्वारक परिणाम जगत् रूप में ब्रह्म का होता है अथवा अद्वारक? इन सभी अर्थों की अभिव्यक्ति करने के लिये श्लोक में यतः और यथा शब्द

का प्रयोग किया गया है। कल्प भेद से जगत् के कारण भी बदलते रहते हैं क्या ? इस अर्थ को जानने के लिए श्री मैत्रेय पूछते हैं- 'बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति।' जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण कौन हैं तथा जगत् किमात्मक है ?

श्लोकस्थ 'यन्मयम्' पद में 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इस सूत्र से प्राचुर्य के ही अर्थ में मयट् प्रत्यय समझना चाहिये।

महापूर्व पक्ष में अद्वैती विद्वानों ने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये श्री विष्णुपुराण के आठ स्थलों को उद्धृतकर उन श्लोकों का अर्थ निर्विशेष अद्वैत परक करते हुए बतलाया कि श्रीविष्णु पुराण भी निर्विशेष वस्तु की ही सिद्धि करते हुए जगन्मिथ्यात्व को सिद्धि करता है। अद्वैती विद्वानों के इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए भगवान् रामानुजाचार्य चौदह स्थलों को उद्धृत करते हुए सिद्ध करते हैं कि श्री विष्णुपुराण सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादन करता है निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन नहीं करता। अपने कथन की पुष्टि करते हुए श्री भाष्यकार रामानुजाचार्य कहते हैं कि जिन श्लोकों को अद्वैती विद्वानों ने अपने समीहित सिद्धि के लिए उद्धृत किया है। प्रकरण के पर्यालोचन करने से उन श्लोकों का वैसा अर्थ नहीं प्रतीत होता। जैसा कि महा पूर्व पक्ष में उन श्लोकों का अर्थ वर्णित है वैसा मानने पर श्री विष्णुपुराण के उपक्रम और उपसंहार से तो विरोध होगा ही साथ-साथ ही प्रकरण का भी स्वारस्यभंग होगा।

"शुद्धे महाविभूत्याख्ये परेब्रह्मणि शब्द्यते ।
मैत्रेय ! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ।।"

श्री विष्णु पुराण की यह सूक्ति, अखिलहेय प्रत्यनीक, जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकारण परब्रह्म को भगवत् शब्द का वाच्यार्थ बतलाती है। परंब्रह्म के वाचक भगवत् शब्द के अवयवार्थ का विवेचन प्रस्तुत करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं कि प्रकृति पुरुष एवं काल को कार्योत्पत्ति के योग्य बनाना तथा सम्पूर्ण जगत् के स्वामित्व इन दो अर्थों को भागवत् शब्द का भकार बतलाता है। परंब्रह्म के अखिल जगत् की सृष्टि स्थिति एवं संहार तथा मोक्ष-प्रदत्व रूप अर्थ को गकार बतलाता है। भकार एवं गकार को मिलाकर भग शब्द बनता है– सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य को भग कहते हैं। परं ब्रह्म इन छहों ऐश्वर्यों से युक्त हैं। भगवत् शब्द के वकार का अर्थ है कि– विकार रहित परं ब्रह्म का सम्पूर्ण भूतों में आत्मा रूप से निवास है तथा सम्पूर्ण जगत की परंब्रह्म के भीतर स्थिति है।

संभर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः ।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ।
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
स च भूतेष्वशेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ।।

श्रीभाष्यकार ने अद्वैती विद्वानों द्वारा उद्धृत सभी विष्णु पुराण की सूक्तियों का प्रकरण पर्यालोचन पुरस्सर सदर्थ उपस्थित किया है और बतलाया हैं कि इस पुराण में कहीं भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं की गयी है और न तो भेद के मिथ्यात्व का प्रतिपादन ही किया गया है। जहाँ कहीं आत्मा के भेद का निषेध प्रतीत होता है उन सभी सूक्तियों का यही तात्पर्य है कि देव, मानव, तिर्यक् इत्यादि रूप से प्रतीत होने वाले भेद आत्मा के भेद नहीं है। ये शरीर तो प्रकृति के परिणाम रूप हैं। सभी आत्माएँ ज्ञान स्वरूप हैं अतएव आत्माओं में आकार का भेद भी नहीं है किन्तु 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है कि जीव परमात्मा के अंश हैं तथा अनेक हैं।

भगवत्पाद श्री यमुनाचार्य इस पुराण के प्रणेता महर्षि पराशर के प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत होकर स्तोत्र रत्न की एक सूक्ति में लिखते हैं–

'तत्त्वेन यश्चिदचिदीश्वर तत् स्वभाव,
भोगापवर्ग तदुपाय गतिरुदारः।
संदर्शयन् निरमिमीत पुराण-रत्नम्,
तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ॥"

अर्थात् जिन्होंने वास्तविक रूप से जड़ (प्रकृति) चेतन (जीव) एवं ईश्वर इन तीनों तत्त्वों तथा उनके स्वभाव, इनके भोग, मोक्ष प्राप्ति के साधन, एवं जीवों की उत्तम गति का सम्यक् निरूपण करते हुए पुराण रत्न की रचना की उन औदार्य गुण सम्पन्न महर्षि पराशर को नमस्कार है।

यह अत्यन्त प्रसिद्ध इतिवृत्त है कि भगवान् यमुनाचार्य अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में श्री रामानुजाचार्य को अपने एक शिष्य श्री स्वामी पूर्णाचार्य जी के द्वारा श्रीरंगम् बुलवाये। परमाचार्य के दर्शन करने की इच्छा से श्री रामानुजाचार्य जब श्री काञ्ची से चलकर श्रीरंगम् आये तो परमाचार्य अपने इस करण कलेश्वर का त्यागकर परधाम गमन कर चुके थे। इस बात को सुनकर श्री रामानुजाचार्य को अत्यन्त कष्ट हुआ। परमाचार्य का दर्शन न पाकर आपने उनके पार्थिव शरीर का ही दर्शन करना चाहा और सन्निकट में आकर साष्टाङ्ग प्रणाम करने के पश्चात् आपने देखा परमाचार्य की मुड़ी हुई तीन अंगुलियों को और देखकर जानना चाहा कि क्या ये परमाचार्य की अंगुलियाँ पहले से ही मुड़ी हुई थीं ? अथवा अब मुड़ गयी हैं ? और परमाचार्य के अन्तरङ्ग किंकरों से पूछने पर उन्हें पता चला कि परमाचार्य की वे अंगुलियाँ पहले ऋजु थीं किन्तु अब मुड़ गयी हैं। इस बात को देखकर आपने कहा कि प्रतीत होता है कि आचार्य की तीन इच्छाएँ अवशिष्ट रह गयी हैं। अतएव मैं तीन प्रतिज्ञा करता हूँ। श्री ब्रह्म सूत्र पर श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार श्री भाष्य की रचना करूंगा। आपकी इस प्रतिज्ञा को सुनकर आचार्य की एक अंगुली ऋजु हो गयी। श्री रामानुजाचार्य ने दूसरी प्रतिज्ञा की 'मैं श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का देशव्यापी प्रचार करूंगा। और जो आपने तीसरी प्रतिज्ञा की वह यह थी कि मैं किसी ऐसे योग्य श्री वैष्णव विद्वान् का विष्णुचित नाम रखूंगा जो श्री विष्णु पुराण की व्याख्या करेगा।

आपकी इन तीन प्रतिज्ञाओं को सुनकर परमाचार्य की मुड़ी हुई तीनों अंगुलियाँ ऋजु हो गयीं। श्री विष्णुचित्ताचार्य स्वामी ने श्री विष्णु पुराण पर विष्णु चित्तीय टीका की रचना की। यह टीका पूर्ण रूप से श्री भाष्यकारमतानुसारणी है। श्री विष्णु पुराण पर आत्मप्रकाश नामकी श्रीधरी टीका भी उपलब्ध है। यह टीका अद्वैत सिद्धान्तानुसारणी है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त श्री विष्णु पुराण पर कोई पुरानी टीका नहीं उपलब्ध है।

स्वयं श्री भाष्यकार श्री विष्णु पुराणकार की प्रशंसा करते हुए नहीं तृप्त होते हैं। वे कहते हैं कि महर्षि पुलस्त्य एवं अपने पितामह महर्षि वशिष्ठ दोनों के समकाल में ही वरदान मिल जाने से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी थी उन भगवान् पराशर महर्षि को परमात्म तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो गया था, अतएव ही मैत्रेय जैसा ज्ञानी व्यक्ति भी उनकी ही सन्निधि में वेदार्थोप बृंहणार्थ जिज्ञासा करते हैं। "पुलस्त्य वशिष्ठवरप्रदानलब्धपर-देवता पारमार्थिक ज्ञानवतो भगवतः पराशरात् स्वावगत वेदार्थो पबृंहणमिच्छन् मैत्रेयः परिपप्रच्छ"।

इस पुराण की सबसे बड़ी महत्ता है कि इसमें वर्णित अर्थों की समानता मन्वादि धर्मशास्त्रों से होती है। मन्वादि स्मृतियां तथा श्री विष्णु पुराण दोनों भगवान् नारायण के ही जगत् कारणत्व का प्रतिपादन करते हैं। "स होवाच व्यासः पाराशर्यः" यह श्रुति स्पष्ट रूप से महर्षि पराशर की वैदिकी सिद्धि का उद्घोषकरती है। लिङ्ग पुराण के दूसरे अध्याय में बतलाया

गया है कि व्यास और शुकदेव के रूप में अवतरित होकर शक्ति पुत्र महर्षि पराशर ने राक्षसों का विनाश किया।

पराशरस्यावतारो व्यासस्य च शुकस्यच।
विनाशं राक्षसानां तु कृतं वै शक्ति सूनुना॥

व्यास और शुकदेव के रूप में पराशर का अवतार बतलाने का अर्थ ही है पराशर का उत्कर्षातिशय्य द्योतन।

श्री भाष्यकार ने यह जो कहा है कि पुलस्त्य और वसिष्ठ का वरदान प्राप्त हो जाने के कारण महर्षि पराशर को देवता के पारमार्थ्य का ज्ञान प्राप्त हो गया था, उसका समर्थन लिङ्ग पुराण भी करता है। लिङ्ग पुराण के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि– महर्षि पुलस्त्य की कृपा से महर्षि पराशर को देवता के पारमार्थ्य विज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी और उन्हीं की आज्ञा से आपने श्री विष्णु पुराण की रचना की।

देवतापारमार्थ्यं च विज्ञानं च प्रसादतः।
पुराणकरणञ्चैव पुलस्त्यस्याज्ञया गुरोः॥

लिङ्ग पुराण के तिरसठवें अध्याय में कहा गया है कि– महर्षि पुलस्त्य एवं ज्ञानी वसिष्ठ की कृपा से पराशर ने विष्णु पुराण की रचना की।

अथ तस्य पुलस्त्यस्य वसिष्ठस्य च धीमतः।
प्रसादाद् वैष्णवं चक्रे पुराणं वै पराशरः॥

इसी पुराण में बतलाया गया है कि श्री विष्णु सभी वेदों का अर्थ रूप है, तथा सभी पुरुषार्थों का प्रदाता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि- जिज्ञासु मैत्रेय ने- 'सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ'- इत्यादि श्लोक के द्वारा सामान्य प्रश्न किया है किन्तु उसका उत्तर महर्षि पराशर ने- 'विष्णोस्स-काशादुद्भूतम्" यह विशेषनिष्ठ उतर दिया है। सामान्य प्रश्न का उत्तर विशेषनिष्ठ देना केवल तत्त्व याथात्म्य प्रतिपादनार्थ ही हो सकता है।

साथ ही श्रीविष्णु पुराणोक्त अर्थों को पुराणान्तरों में अत्यन्त आदर के साथ अपनाया गया है। सबसे बड़ी बात यह कि पुराणान्तरों में परस्पर उक्तियाँ व्याहत रूप से भी प्राप्त होती हैं किन्तु इस पुराण की कोई भी ऐसी सूक्ति नहीं है जिसका किसी दूसरी सूक्ति से विरोध हो। इन्हीं सभी अर्थों को हृदय में रखकर श्री भाष्यकार इस पुराण की प्रशंसा हृदय खोलकर करते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जीवात्मा एवं परमात्मा के भेदों के आपादक श्रुतियों में निम्न श्रुति प्रसिद्धतम है वह है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयो रन्यः पिप्पलं स्वादवत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"

इस श्रुति का अर्थ विशिष्टाद्वैती विद्वान् बतलाते हैं कि एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा रूपी दो सुन्दर पक्षियों का निवास है, उन दोनों में से एक (जीवात्मा) अपने किये कर्मों का फलोपभोग करता है और दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग किये बिना हृष्ट पुष्ट प्रसन्न रहता है। अतएव यह मन्त्र जीव एवं परब्रह्म के भेद का आपादन करता है। किन्तु पैङ्गिरहस्य

नामक ब्राह्मण इस मन्त्र की व्याख्या अन्तःकरण एवं जीव परक करता है आत्मा और परमात्मा के भेद परक नहीं। पैङ्गिब्राह्मण के अनुसार इस मन्त्र में 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति–' इस अंश के द्वारा सत्व पद वाच्य अन्तः करण को बतलाया गया है। "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इस अंश के द्वारा कर्मफलों का नहीं उपभोग करने वाला द्रव्य मात्र जीव कहा गया है। पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण की पंक्तियाँ इस प्रकार की हैं– "स्वाद्वत्तीत्यन्तेन सत्त्वमुक्तम्" अभिचाकशीतीत्यन्तेन वाक्येन अनश्नन्नयं ज्ञः इति क्षेत्रज्ञोऽभिपश्यतीत्युक्तम्"

यहाँ पर यदि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ओर से यह कहा जाय कि– पैङ्गिब्राह्मण का सत्व शब्द जीव का वाचक है और क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मा का वाचक है। तो यह कहना इसलिए उचित नहीं होगा कि सत्व शब्द अन्तः करण के अर्थ में तथा क्षेत्रज्ञ पद जीव के ही अर्थ में प्रसिद्ध हैं। क्योंकि पैङ्गिब्राह्मण में ही सत्व और क्षेत्रज्ञ पद की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि– "तदेतत् सत्वं येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः। तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ।" अर्थात् जीव जिस अन्तःकरण के माध्यम से स्वप्न देखता है उसे सत्व कहते हैं। और जो शरीर के भीतर रहने वाला उपद्रष्टा जीव है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अतएव अन्तःकरण और जीव ही सत्व एवं क्षेत्रज्ञ शब्द वाच्य हैं। इस तरह यह मन्त्र अन्तःकरण एवं जीव परक ही है जैसा कि विशिष्टाद्वैती विद्वान् मानते हैं वैसी यह जीव एवं परमात्मा परक श्रुति नहीं है।

तो इस प्रकार का अद्वैती विद्वानों का कथन उचित न होगा, क्योंकि यह मन्त्र जीवात्मा एवं परमात्मा परक ही है। इस मन्त्र के– "समानं वृक्षं परिपस्वजाते" इस वाक्यांश के साथ 'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नः' इस बादके मन्त्रांश की एकार्थता है। यहां पर स्पष्ट रूप से पुरुष पद जीव का वाचक है। क्योंकि यहां बतलाया गया है कि जब तक अपने साथ विद्यमान् परमात्मा के ऐश्वर्य को जीव नहीं जानता तब तक वह मोह ग्रस्त रहने के कारण अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है जब वह परमात्मा की महिमा का भिज्ञ हो जाता है तब वह वीतशंक हो जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के चौथे अध्याय की छठी श्रुति द्वा सुपर्णेत्यादि है और सातवीं श्रुति इस प्रकार है–

समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

इस श्रुति का अर्थ है कि शरीर रूपी एक ही वृक्ष में माया मुग्ध माया के साथ जल एवं धूलि के समान एकत्व प्राप्त जीव दुःखों का अनुभव करता रहता है। जब वह अपने से भिन्न अपने धारक, पोषक, नियामक तथा अपने कर्मों से प्रियमाण परमात्मा तथा उसके अखिल जगन्नियामकत्व रूप महिमा का साक्षात्कार करता है तो फिर वह दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस श्रुति में पुरुष शब्द वाच्य जीवात्मा से परमात्मा के लिये ईश शब्द का प्रयोग किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि परमात्मा के ज्ञान से जीव वीतशोक हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र के शब्दों से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह मन्त्र जीवात्मा एवं परमात्मा के भेदों का प्रतिपादन करता है। क्योंकि 'स्वाद्वत्ति' क्रिया का प्रयोग भोक्ता जीव के लिए तथा 'अनश्ननन्य.' पद का प्रयोग अभोक्ता परमात्मा के लिए किया गया है। किञ्च जिस तरह चक्षुरादि इन्द्रियाँ जड होने के कारण भोक्ता नहीं है उसी तरह अन्तःकरण भी जड होने के कारण भोक्ता नहीं हो सकता है। अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि तो फिर पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण ग्रन्थ के व्याख्यान की कैसे संगति होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि– "द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तुजन्तुषु' इस निघण्टु वाक्य के अनुसार सत्त्व पद का प्रयोग जन्तु (जीव) के अर्थ में भी होता है। महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश काव्य के द्वितीय सर्ग के 'वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्' इस वाक्य में सत्त्व पद का प्रयोग जीवों के अर्थ में किया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि सत्त्व पद जीव का वाचक नहीं हो सकता है।

इसी तरह क्षेत्रज्ञ पद का प्रयोग परमात्मा के लिये श्री विष्णु सहस्र नाम के– "क्षेत्रज्ञोऽक्षर एवच" इस वाक्य में किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय के दूसरे श्लोक के क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" अर्थात् मुझे ही क्षेत्रज्ञ भी जानो– इस वाक्य में भगवान् ने स्वयं क्षेत्रज्ञ पद को परमात्मा का वाचक बतलाया है।

अब रही बात केवल पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण की पंक्तियों की सङ्गति की। अतएव उन पंक्तियों की सङ्गति इस प्रकार समझना चाहिये।

'येन स्वप्नं पश्यति' इस वाक्य में इत्थं भाव के अर्थ नें तृतीया मानकर जिससे विशिष्ट परमात्मा स्वप्न देखता है यह अर्थ मानना चाहिये। इस तरह स्वप्न द्रष्टृत्व को जीवात्मा द्वारा परमात्मा का विशेषण समझना चाहिये। किञ्च पैङ्गि ब्राह्मण का शारीर शब्द परमात्मा का वाचक है क्योंकि 'यस्यात्मा शरीरम्' श्रुति बतलाती है कि जिस तरह यह पाञ्चभौतिक आत्मा का शरीर है उसी तरह जीवात्मा भी परमात्मा का शरीर है। जिस तरह आत्मा शरीर के भीतर रहकर शरीर का नियमन किया करता है। उसी तरह परमात्मा भी आत्मा के भीतर रहकर आत्मा का नियमन किया करता है। उपद्रष्टा पद सर्वज्ञ परमात्मा के निरुपाधिक द्रष्टृत्व का प्रतिपादन करता है। इस तरह स्पष्ट है कि द्वा सुपर्णा श्रुति जीवात्मा एवं परमात्मा परक है।

इस तरह सभी श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करती हुई जगत् एवं ब्रह्म के भेद को वास्तविक बतलाती हैं। मुक्तजीवों का जो ब्रह्म के साथ कहीं अभेद बतलाया गया है, वह ब्रह्म एवं मुक्तजीवों के भोग साम्य के कारण। भगवान् गीता में स्पष्ट रूप से कहते हैं, "मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।" अर्थात् भोग के द्वारा मेरी समता को प्राप्त मुक्तजीव सृष्टि कालमें न तो उत्पन्न होते हैं और न तो प्रलयकाल में

दुःख ही प्राप्त करते हैं। अतएव शास्त्रों में न तो कहीं निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन ही किया गया है और न तो जगत् में प्रतीयमान वस्तुओं का भ्रम रूपत्व प्रतिपादन हीं।

श्री भाष्य की दृष्टि में सभी श्रुतियों का समान आदर है। अद्वैत सिद्धान्त में चार महावाक्यों को परमार्थ विषयक तथा तद् व्यतिरिक्त वाक्यों को मिथ्यार्थ विषयक माना जाता है, किन्तु श्री भाष्यकार श्रुतियों को सगुण एवं निर्गुण श्रुतियों में विभक्तकर घटक श्रुतियों के सहारे सदर्थ प्रस्तुत करते हुए सामञ्जस्य स्थापित करते हैं।

भास्कराचार्य भेदाभेद वादी हैं। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्म में भेद अभेद दोनों है। वे कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के भेद स्वाभाविक और अभेद औपाधिक है। ऐसी स्थिति में उनके मत में भेद की आपादिका श्रुतियाँ औपाधिक अर्थ का ही प्रतिपादन करती है। यादव प्रकाशाचार्य के अनुसार जीवात्मा एवं परमात्मा का भेदाभेद दोनों स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञादि समस्त दिव्यगुण सम्पन्न ब्रह्म में जीवात्मा के सभी दोषों के होने का प्रसङ्ग होगा। श्री भाष्यकार का कहना है कि जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों में शरीरात्मभाव सम्बन्ध होने के कारण श्रुतियाँ जीव और ब्रह्म में अभेद का प्रतिपादन करती है। जिस तरह शरीर के धर्मों का सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता है। उसी तरह जीवात्मा और शरीर में अभेद व्यवहार होता है उसी तरह श्रुतियाँ जीवात्मा और परमात्मा में अभेद

व्यवहार करती हैं। 'यस्यात्मा शरीरम्' 'जगत् सर्वं शरीरं ते' 'तानिसर्वाणि तद्वपु:' इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों के वाक्य बतलाते है कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है और परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं। अतएव श्रुतियों के सभी वाक्य यथार्थ अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। उनमें परस्पर में कहीं भी विरोध नहीं है।

श्री भाष्य का प्रणयन करने के लिए भगवान् रामानुजाचार्य को काश्मीर के पुस्तकालय में सुरक्षित श्री बोधायन वृत्ति को देखने के लिये काश्मीर की यात्रा करनी पड़ी। आप आपने प्रियतम विद्वान् शिष्य श्री करेश मिश्र (श्री वत्सचिह्न मिश्र) के साथ काश्मीर के शारदा पीठ आये और बोधायन वृत्तिग्रन्थ का अवलोकन किये। पुन: श्री रङ्गम् पधार कर ब्रह्म सूत्रों की श्री भाष्य नामक व्याख्या प्रारम्भ की।

जिस तरह वेदों के उपबंहण रूप महाभारत प्रणयन काल में श्री बादरायण के वाक्यों को लिखने का काम गणेश जी करते थे उसी तरह भगवान् रामानुजाचार्य द्वारा बोले गये वाक्यों को लिखने का कार्य श्रीकूरेशाचार्य स्वामी करते थे। इनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा पर विश्वस्त भगवान् रामानुजाचार्य इन्हें आदेश दे रखे कि तुम बिना अर्थ जाने मेरे वाक्यों को मत लिखना एकबार श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार जीव का लक्षण करते हुए भगवान् रामानुजाचार्य ने कहा जीव का लक्षण ज्ञातृत्वमात्र ही है। श्री कूरेश मिश्र ने इस लक्षण को नहीं लिखा आचार्य के द्वारा कारण पूछने पर आपने निवेदन किया कि श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार

ज्ञातृत्व के साथ-साथ शेषत्व का जीव के लक्षण में निवेश आवश्यक है और भगवान् रामानुजाचार्य ने आपके इस बात को सहर्ष स्वीकार किया।

श्री कूरेश मिश्र के माता पिता का नाम क्रमशः पेरुदेवी और श्री दामोदराचार्य (या श्रीराममिश्राचार्य) था। कलि के ४१०८ वर्ष बीत जाने पर सौम्य नामक संवत्सर के मकरमास की पञ्चमी तिथि गुरुवार को हस्त नक्षत्र में आपने अपने अवतार से तुण्डीर मण्डल के श्री काञ्ची के सन्निकट में विद्यमान् कूर नामक ग्राम विशेष को अलंकृत किया। आपकी पत्नी श्री गोदा देवी थीं। भगवान् रामानुजाचार्य ने आपको अपने यज्ञोपवीत का महत्तम स्थान दे रखा था। पञ्चकालभगवदुपासना परायण आपके लिये भगवान् रङ्गनाथ अपने अर्चक के द्वारा ससम्मान गुडोदन प्रेषित किये थे, जिसका केवल दो ग्रास मात्र ही स्वीकार करने के कारण आपके दो पुत्र हुए जिनका नाम व्यास और भट्ट पराशर था।

भगवान् रामानुजाचार्य की आज्ञा पाकर अपने सम्पूर्ण उपनिषदों, ब्रह्म सूत्रों एवं उपबृंहण ग्रन्थों के सारस्वरूप भाषा एवं भावोद्वेलन की चरम काष्ठा चुम्बी पञ्चस्तवी की रचना आपने भगवान् के मुखोल्लासार्थ की। आपकी ये रचनायें त्रयी के सौभाग्य सौख्य सूक्ति के मङ्गल सूत्र के समान हैं।

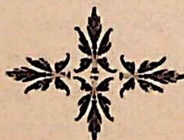
भगवान् रामानुजाचार्य के पूर्वाचार्यों को इस बात का निश्चय था कि हमारी शिष्य परम्परा में श्री रामानुजाचार्य जैसे भी शिष्य हैं, उनके शिर के साथ हमारा सम्बन्ध है, क्योंकि उनको

आशीर्वचन प्रदानार्थ हम उनके शिर का स्पर्श करते हैं। अतः उनके शिरः संयोग के कारण हम लोगों को अवश्य मुक्ति मिलेगी और भगवान् रामानुजाचार्य के पश्चात् के आचार्य अपनी मुक्ति का निश्चय भगवान् रामानुजाचार्य के पाद संयोग के कारण मानते हैं। स्वयं जिन श्री भाष्यकार को सारे तत्त्व हस्तामलक वत् प्रत्यक्ष थे वे भी यह मानते थे कि मुझे भी मुक्ति अवश्य मिलेगी, क्योंकि मेरे श्री कूरेश मिश्र जैसे शिष्य हैं। उन श्री कुरेश स्वामी जी की गरिमा का वर्णन किन शब्दों में संभव है।

प्रस्तुत भाग के प्रारम्भ में श्री कूरेश स्वामी जी की तनया इस विश्वास से दी गयी है कि इस अकिञ्चन पर भी उन अकारण करुणावरुणालय की अहैतुकी कृपा होगी।

अन्त में मैं अपने गुणैकग्राही विज्ञ पाठकों के समक्ष अनवत हूँ, इस विश्वास से कि वे मुझे अपने सद्विचारों से अवगत कराते रहेंगे।

विद्वद्विधेय–
श्रीधराचार्य



श्री वत्स वंश कलशोदधि पूर्ण चन्द्रं,

श्री कृष्ण सूरिपद पंकज भृङ्ग राजम् ।

श्रीरंग वेंकट गुरुत्तम लब्ध बोधं,

भक्त्या भजामि गुरुवर्य मनन्त सूरिम् ॥



श्रीमद् जगद्गुरु श्रीकाञ्ची प्रतिवादि भयंकर मठाधीश्वर
श्री श्री १००८ श्री स्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज



॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥
॥ श्री वादिभीकर महागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्री भाष्य

—(चतुर्थ भाग)—

श्रीवत्सचिह्नमिश्रेभ्यो नम उक्तिमधीमहे ।
यदुक्तयस्त्रयीकण्ठे यान्ति मङ्गलसूत्रताम् ॥

पराविद्या द्वारा भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन

मूल—'अथ परा यया तदक्षरम्, इत्यत्रापि प्राकृतान् हेय गुणान् प्रतिषिद्धय नित्यत्व-विभुत्व-सूक्ष्मत्व-सर्वगतत्व-अव्ययत्व-भूतयोनित्व सार्वज्ञादि कल्याण गुण योगः, परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः। 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेक विशेषणविशिष्टैकार्थाभिधान व्युत्पत्या न निर्विशेष-वस्तुसिद्धिः। प्रवृत्ति निमित्तभेदेनैकार्थवृत्तित्वं हि सामानाधिकरण्यम्, तत्र सत्यज्ञानादि पदमुख्यार्थ गुंणैस्तत्तद्गुणविरोध्याकार प्रत्यनीकाकारैर्वा

एकस्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्या श्रयणीयः । इयांस्तु विशेषः— एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता, अपरस्मिंश्च तेषां लक्षणा । न चाज्ञाना दीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव । एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तर प्रयोग वैयर्थ्यात् । तथा सति सामानाधिकरण्यासिद्धिश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्तमानानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात् । न च एकस्यैवार्थस्य विशेषणभेदेन विशिष्टताभेदादनेकार्थ-त्वं पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि, एकस्यैव वस्तु-नोऽनेक विशेषण विशिष्टता प्रतिपादन परत्वात्सामा-नाधिकरण्यस्य "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेक स्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम्,' इति हि शाब्दाः।

अनुवाद—

येषां वचांसि सहसा मम मानसस्थान्
मोहान् विधूय तनयन्ति प्रकाश-पुञ्जम् ।
ते सर्वतन्त्रनिपुणाः यतिशेखराः श्री
सेनेश योगिचरणाः मम कामदास्स्युः ॥

(मुण्डकोपनिषत् के प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में दो विद्याओं का वर्णन है, अपराविद्या एवं पराविद्या ।

उनमें षडङ्गों तथा उपबृहणों के साथ चारों वेदों की गणना अपराविद्या में की गयी है इसके बाद पराविद्या का वर्णन प्रस्तुत करते हुये बतलाया गया कि यह विद्या ब्रह्मावगति का साधन-भूत है। अद्वैती विद्वानों ने महापूर्वपक्ष में बतलाया है कि वह पराविद्या निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करती है। उसका खण्डन करते हुए भगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं– (अथपरा इत्यादि) 'इसके पश्चात् परा विद्या का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है, जिसके द्वारा अक्षर तत्त्व जाना जाता है।' इस श्रुति में भी (ब्रह्म में) प्राकृत त्याज्य गुणों का निषेध करके पर-ब्रह्म में नित्यत्व, विभुत्व, सूक्ष्मत्व, सर्वव्यापकत्व, अव्यय शब्द के द्वारा उपलक्षित दोषों के विरोधित्व नामक गुण, भूत योनित्व (जगत्कारणत्व) एवं सर्वज्ञता आदि कल्याण गुणों के योग का प्रतिपादन किया गया है। 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यों में भी सामानाधिकरण्य वाक्य की अनेक विशेषणों से युक्त एक ही अर्थ के अभिधान की व्युत्पत्ति होने के कारण निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। (भिन्न-भिन्न पदों द्वारा) प्रवृत्ति निमित्त के भेद पूर्वक एक अर्थ का प्रतिपादन ही सामानाधिकरण्य कहलाता है। इनमें भी सत्य, ज्ञान आदि पदों के मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) भूत गुणों के द्वारा अथवा विभिन्न गुणों के विरोधी आकार भूत प्रत्यनीकाकारों के द्वारा एक ही अर्थ (के प्रतिपादन) में (विभिन्न) पदों की प्रवृत्ति होने पर उनके निमित्त का भेद अवश्य मानना होगा। (अब प्रश्न यह उठता

है कि सत्यादि पदों का मुख्यार्थ भूत गुणों के स्वीकार करने तथा तत् तत् गुणों के विरोधी आकार का प्रतिपादन मानने में क्या भेद होगा ? तो इसका उत्तर देते हुये भगवान रामानुजाचार्य कहते हैं– इन दोनों पक्षों में यह भेद है कि प्रथम पक्ष में पदों का मुख्यार्थ माना जाता है, और दूसरे पक्ष में उन पदों में लक्षणावृत्ति स्वीकार की जाती है। और यह तो कहा नहीं जा सकता है कि अज्ञान आदि की प्रत्यनीकता वस्तु स्वरूप ही है। क्योंकि ऐसा होने पर यदि एक ही पदसे वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होगया, तो फिर दूसरे पदों का प्रयोग व्यर्थ होगा। और ऐसा होने पर एक वस्तु के प्रतिपादन में लगे पदों के निमित्त भेद को नहीं स्वीकार करने के कारण समानाधिकरण्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। विशेषण के भेद के द्वारा विशिष्टता का भेद तथा (विभिन्न विशेषण के अन्वय का भेद) हो जाने के कारण (होने वाली) पदों की अनेकार्थता सामानाधिकरण्य का विरोधी है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सामानाधिकरण्य वाक्य एक ही वस्तु का अनेक विशेषण विशिष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं। व्याकरण शास्त्र के जानकार विद्वानों का कहना है कि– जहाँ पर भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक पद किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, वहीं सामानाधिकरण्य वाक्य होता है।

टिप्पणी– अथपरेत्यादि– मुण्डकोपनिषत् की 'अथ परा-यया तदक्षरम्' इस श्रुति से पराविद्या का वर्णन प्रारम्भ किया

गया है । इस विद्या का भी तात्पर्य सविशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादन में है । इस बात का प्रतिपादन करते हुये भगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं कि इस विद्या में सर्वप्रथम ब्रह्म के प्राकृत गुणों का निषेध किया गया है । "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।' (मु० १।१।६) यह श्रुति ब्रह्म में प्राकृतहेय गुणों का निषेध करती है । इसके 'अद्रेश्यम् अग्राह्यम् पद यह बतलाते हैं कि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता और न तो अनुमान का ही विषय बनता है । अथवा इन दोनों पदों का तात्पर्य ब्रह्म को क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का अविषय बतलाना है । 'अगोत्रमवर्णम्' श्रुति ब्रह्म में प्राकृत नाम एवं रूप सम्बन्ध का राहित्य बतलाती है । 'अचक्षुः श्रोत्रम्' श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म को इन्द्रियों के अधीन ज्ञान नहीं होता है । 'अपाणि पादम्' श्रुति का तात्पर्य ब्रह्म की चेष्टायें इन्द्रियों के अधीन नहीं होती है, यह बतलाने में है । कहने का आशय है कि जीवों में प्राकृत कर्मों का संयोग होने से जीवों की चेष्टायें इन्द्रियों के अधीन तथा उनका ज्ञान भी इन्द्रियों के अधीन होता है, ब्रह्म में ऐसी बात नहीं है । इसके पश्चात् श्रीभाष्यकार कहते हैं कि पराविद्या की श्रुतियां परं ब्रह्म में दिव्य कल्याण गुणों के योग का प्रतिपादन करती है । वह श्रुति है– 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्, तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्तिधीराः ।' यह श्रुति ब्रह्म को नित्य बतलाकर उनमें काल की अपरिच्छिन्नता, बतलाती है । क्योंकि भूत भविष्यत

एवं वर्तमान सभी कालों में विद्यमान रहने वाली ही वस्तु नित्य कहलाती है। ब्रह्म को विभु-व्यापक बतलाकर श्रुति उसे सभी देशों में विद्यमान होने से अपरिच्छिन्न बतलाती है। सर्वगतं सुसूक्ष्मं श्रुति बतलाती है– कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ब्रह्म सभी वस्तुओं के भीतर प्रविष्ट है अतएव उसका किसी वस्तु से भी परिच्छेद नहीं है। अव्ययम् पद बतलाता है कि ब्रह्म व्यय शब्दोपलक्षित दोषों का विरोधी है अथवा एक रूप एवं पूर्ण है। 'भूतयोनिम्' श्रुति ब्रह्म में जगत् कारणत्व का प्रतिपादन करती है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म सभी वस्तुओं को स्वरूपतः एवं प्रकारतः दोनों प्रकार से जानता है।

२–सत्यं ज्ञानम्—इत्यादि वाक्य के द्वारा भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। अद्वैती विद्वान् सत्य पदको अनृत प्रत्यनीक परक, ज्ञानपद को जड प्रत्यनीक परक एवं अनन्त पद को परिच्छिन्न प्रत्यनीक परक मानते हैं। इसका खण्डन करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि– सत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्य भी उसी तरह सत्यत्वादि विशिष्ट ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं जिस तरह 'नीलमुत्पलम्' इत्यादि समानाधिकरण्य वाक्य विशिष्टैकार्थ के प्रतिपादक हैं। 'सत्यं ज्ञानम्' आदि वाक्य समानाधिकरण्य वाक्य हैं। और समानाधिकरण्य का लक्षण है कि जहां पर भिन्न प्रवृति निमित्त वाले अनेक पद एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं वहां पर सामानाधिकरण्य वाक्य होता है। अतएव सामा-

नाधिकरण्य वाक्यों का यह स्वभाव होता है कि वे विशेषण विशिष्ट ही वस्तु का प्रतिपादन किया करते हैं। गहापूर्व पक्ष में यह जो कहा गया है कि समानाधिकरण्य वाक्य की एकार्थ में व्युत्पत्ति होती है, अतएव सत्यादि वाक्य स्वरूप मात्र के बोधक हैं। तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि– यहां प्रश्न यह उठता है कि अद्वैती विद्वानों के अनुसार-सत्य आदि पद विभिन्न पदार्थ विरोधि व्यावृत्ति मात्र परक हैं ? या (२) स्वरूप मात्र परक हैं अथवा (३) विरोधि व्यावृत्त्यवच्छिन्न स्वरूप परक हैं ?

(१) सत्यादि पदों को केवल विरोधि व्यावृत्ति स्वरूप परक इसलिए नहीं माना जा सकता है कि विरोधिव्यावृत्तियों के अनेक होने से एकार्थत्व को सिद्धि नहीं हो सकती है। व्यावर्त्य वस्तु जब अनेक हैं तो व्यावृत्तियां भी अनेक होंगी ही।

(२) उन्हें स्वरूप परक भी इसलिए नहीं माना जा सकता है कि, ऐसा मानने पर पर्यायता नामक दोष होगा और ऐसी स्थिति में पदों की प्रवृत्ति के निमित्त (कारण) के अनेक न हो सकने के कारण सामानाधिकरण्य लक्षण की हानि होगी।]

(३) सत्यादि पदों को विरोधि व्यावृत्त्यवच्छिन्न स्वरूपपरक मानने पर भी यहां यह प्रश्न उठेगा कि विरोधिव्यावृत्तियां स्वरूप का अवच्छेदक उपलक्षणरूप से हैं ? अथवा विशेषण रूप से अर्थात् व्यावृत्तियों में ब्रह्म को प्रतीति के अनुकूल पदार्थ विषयतामात्र ही है, अथवा उनमें वाक्यार्थ प्रतीति विषयता भी है ?

(क) उपलक्षण रूप से उन्हें (विरोधि व्यावृत्तियों को) स्वरूपावच्छेदक इसलिए नहीं माना जा सकता है कि यदि एक ही उपलक्षण के द्वारा स्वरूप का ज्ञान हो गया तो फिर दूसरे और तीसरे उपलक्षण व्यर्थ होंगे। क्योंकि उपलक्षण-उपलक्ष्य से वहिर्भूत तथा उपलक्ष्य की प्रतीति का उपायभूत धर्म होता है। (उपलक्ष्याद् वहिर्भूत उपलक्ष्य प्रतीत्युपायोधर्म उपलक्षणम्।) अतएव एक को छोड़कर सत्यादि वाक्य में अन्य पद व्यर्थ होंगे। दूसरी बात यह कि उन पदों में प्रवृत्तिनिमित्त का भेद न मानने के कारण समानाधिकरण्य लक्षण भङ्ग भी होगा।

यदि यहां पर पूछें कि तो फिर विशिष्टाद्वैतियों के मत में कैसे अनेक जन्मादि पद एक ही ब्रह्म के उपलक्षण हैं। तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि धर्मी ब्रह्म एक है फिर भी उसके हम जन्म स्थिति आदि के अनुकूल अनेक ज्ञान, शक्ति आदि उपलक्ष्य धर्मों को स्वीकार करते ही हैं। अद्वैत सिद्धान्त में तो अनेक उपलक्षणों से अनेक उपलक्ष्य धर्मों को नहीं स्वीकार करने के कारण इस दोष को नहीं हटाया जा सकता है।

(ख) विरोधी व्यावृत्तियोंकी स्वरूप की अवच्छेदकता विशेषण रूप से मानने पर विशेषणभूत व्यावृत्तियों के अनेक होने से एकार्थत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि- विशेष्य के अन्तर्भूत विशेष्य की प्रतीति के उपायभूत धर्म को ही विशेषण कहते हैं। -"विशेष्यान्तर्भूतो विशेष्य प्रतीत्युपायो धर्मो विशेषणम्।" यदि कहें कि विशेषण के भेद होने पर भी विशेष्य में कोई भेद न

हाने के कारण एकार्थत्व की सिद्धि हो ही जाती है ? तो फिर हम में और आप में कोई अन्तर ही नहीं हम भी तो विशेषण में भेद और विशेष्य में अभेद मानते हैं। हाँ एक बात का भेद हो सकता है कि आपके मत में प्रत्यनीक रूप अर्थ अपनाने के लिए पदों में लक्षणावृत्ति स्वीकार की जाती है जब कि हमारे यहां मुख्यार्थ से ही कार्य चलता है।

—: कारण वाक्यों द्वारा भी सविशेष ब्रह्म की सिद्धि :—

मूल—यदुक्तम्— एकमेवाद्वितीयमित्यत्राद्वितीयपदं गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते, अतः सर्वशाखा प्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामद्वितीय वस्तु प्रतिपादन परत्वमभ्युपगमनीयम्। कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति, लिलक्षयिषितं ब्रह्म निर्गुणमेव। अन्यथा— 'निर्गुणम्' 'निरञ्जनम्' इत्यादि— भिर्विरोधश्चेति, तदनुपपन्नम्। जगदुपादानस्य ब्रह्मणः स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्र शक्तियोगप्रतिपादनपरत्वादद्वितीयपदस्य। तथैव विचित्र शक्तियोगमेवावगमयति "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि। अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्ते निमित्तान्तरमात्रनिषेधः कथं ज्ञायत इति चेत्, सिसृक्षो

ब्रह्मण उपादानकारणत्वं 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेव' इति प्रतिपादितम्। कार्योत्पत्ति स्वाभाव्येन बुद्धिस्थं निमित्तान्तरमिति तदेवाद्वितीयपदेन निषिध्यत इत्यवगम्यते।

सर्वनिषेधे हि स्वाभ्युपगतास्सिषाधयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धास्स्युः सर्वशाखा प्रत्ययन्यायश्चात्र भवतो विपरीतफलः सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वज्ञत्वादीनां गुणानामत्रोपसंहारहेतुत्वात्, अतः कारणवाक्यस्वभावादपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यनेन सविशेषमेव प्रतिपाद्यते इति विज्ञायते।

अनु०– अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि– (चूंकि सदेव इत्यादि श्रुति के 'सदेव' 'एकमेव' इन दो अवधारकों के द्वारा ब्रह्म के सजातीय विजातीय भेदका निवारण किया गया है, अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति का अद्वितीयम् पद ब्रह्म के (स्वगत भेद स्वरूप) गुणजन्य भेद को भी नहीं बर्दास्त कर सकता है। अत एव सर्वशाखा प्रत्यय न्याय के द्वारा यही मानना चाहिये कि सभी कारण वाक्य अद्वितीय वस्तु का प्रतिपादन करते हैं। (यदि कोई पूछे कि कारण वाक्यों की एकार्थता की क्या आवश्यकता है तो इसका उत्तर है कि) जगत् के कारण रूप से उपलक्षित ब्रह्म का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति लक्षण बतलाती है।

अतएव जिसका लक्षण करना अभीष्ट है वह ब्रह्म निर्गुण ही है। यदिलिलक्षयिपित (जिसकालक्षण करना अत्यन्त अभिप्रेत है) ब्रह्म को निर्गुण नहीं माना जाय तो 'निर्गुणम्' (अर्थात् ब्रह्म सभी गुणों से रहित है) निरञ्जनम् (सभी दोषों से रहित ब्रह्म है (इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा।' इस प्रकार से अद्वैती विद्वानों का कथन उचित नहीं है।

क्योंकि 'अद्वितीयम्' पद जगत के उपादानकरण ब्रह्म से भिन्न (जगत् के) दूसरे अधिष्ठाता का निवारण करते हुए उनमें विचित्र शक्ति के योग का प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार ब्रह्म में विचित्र शक्ति का योग ही "उसने इक्षण किया मैं एक से अनेक हो जाऊँ एतदर्थ उसने तेज की सृष्टि की।" इत्यादि श्रुति बतलाती हैं।

यहां पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सामान्यतः जब ब्रह्म को अद्वितीय कहा गया है तो इस पद से ब्रह्म से भिन्न जगत् के निमित्त कारण का निषेध यह पद करता हैं, यह कैसे ज्ञात होता है? तो इसका उत्तर है कि 'तदैक्षत बहुस्यां' इत्यादिवाक्य से ज्ञात, सृष्टि करने के इक्षुक ब्रह्म को उपादान कारण जगत् का 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेव' अर्थात् हे सोमरस पानाई सच्चिदात्य सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सद्रूप ही था) इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। कार्य की उत्पत्ति के स्वभाव के अनुसार (उससे भिन्न निमित्त कारण बुद्धिस्थ होता है (क्योंकि लोक में देखा जाता है कि घट आदि कार्यों के उपादान कारण (मृत्पिण्ड आदि) और निमित्तकारण (कुलाल आदि) भिन्न-भिन्न

होते है) अद्वितीय पद के द्वारा उस का निषेध किया गया है, यह प्रतीत होता है। ब्रह्मव्यतिरिक्त सम्पूर्ण गुणों का निषेध मानने पर अद्वैतियों के द्वारा सिषाधयिषित (ब्रह्म के) नित्यत्व आदि का भी निषेध हो जायेगा जिनकी सिद्धि अद्वैती विद्वानों को भी अभिप्रेत है।

किञ्च– निगुर्णवाद में सर्वशाखा प्रत्ययन्याय अद्वैती विद्वानों के सिद्धान्त के विपरीत फल देने वाला सिद्ध होगा क्योंकि सभी शाखाओं में कारण से सम्बद्ध सर्वज्ञत्व आदि गुणों का कारण भूत ब्रह्म में उपसंहार देखा जाता है। अतएव कारण वाक्यों के स्वभावानुसार भी 'सत्यं ज्ञानम् इत्यादि वाक्य के द्वारा सविशेष ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, यह विशेष रूप से ज्ञात होता है।

टिप्पणी– अतः सर्वशाखा प्रत्यय इत्यादि– यहां पर अद्वैती विद्वानों का अभिप्राय यह है कि सभी वेदों की अनेक शाखायें हैं और प्रत्येक शाखाओं के उपनिषद् भाग में कारण तत्त्व पर विचार किया गया है। ऐसी स्थिति में अनेक कारण वाक्य कारण तत्त्व के सगुणत्व का तथा अनेक कारण वाक्य कारण तत्त्व के निर्गुणत्व का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी दशा में अप-च्छेदापवादन्याय प्रवृत्त होता है और उस न्याय के सहारे सगुण वाक्यों की अपेक्षा निर्गुण वाक्यों के प्रबल होने के कारण सगुण वाक्यों का बाध हो जाता है।

तथैव विचित्र शक्तियोगमेवावगमयति– इस वाक्य के तथैव पद का अभिप्राय है कि अद्वितीयम् पद जिस तरह से ब्रह्म व्यति-

रिक्त के जगदधिष्ठातृत्व का निवारण करता है उस तरह से। विचित्र शक्ति योगमेव का तात्पर्य है कि जगत् के उपादानकारण, ब्रह्म का ही अधिष्ठातृत्व 'तदैक्षत बहुस्याम' इत्यादि वाक्य बतलाते हैं।

अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्ते– इत्यादि वाक्य के द्वारा अद्वैती की अनेक तरह की शंका है (१) 'एकमेवाद्वितीयम्' वाक्य के अद्वितीय पद में कोई उपपद नहीं है अतएव यह पद सम्पूर्ण प्रपञ्च का भी निषेधक हो सकता है और निमित्तान्तर का भी निषेधक हो सकता है। ऐसी स्थिति में कैसे मान लिया जाय कि अद्वितीय पद का तात्पर्य निमित्तान्तर के वारण में ही है (२) किञ्च उपक्रम में 'सदेव' 'एकमेव' इन दो अवधारकों के द्वारा ब्रह्म के सजातीय विजातीय भेद का निरसन किया जा चुका है और एक विज्ञान की प्रतिज्ञा का निर्वाह केवल सजातीय एवं विजातीय भेद के निरसन मात्र से नहीं हो सकता है, अतएव उपक्रम के अनुसार 'अद्वितीयम्' पद को स्वगत भेद का ही निरासक मानना चाहिये अधिष्ठात्रन्तर का नहीं। (३) अद्वितीय श्रुति के पश्चात् जिस तरह के जगन्निमित्व का प्रतिपादन सुना जाता है उसी तरह जगदुपादानत्वभी। अतएव प्रथम बुद्ध्युपस्थित जगदुपादानान्तर का ही निषेधक अद्वितीय पद को क्यों न माना जाय कि अद्वितीय पद को निमित्तान्तर का वारक माना जाय ?

सिसृक्षोरित्यादि– इस वाक्य के द्वारा उपर्युक्त अद्वैती के शंकाओं का खण्डन किया गया है। 'अद्वितीय' श्रुति के पश्चात्

'तद्वैक्षत' श्रुति आयी है, अतएव यह मानना होगा कि 'अद्वितीय' श्रुति कारण परक है। इस अर्थ का संकेत श्रीभाष्यकार ने 'सिसृक्षोः पद से दिया है। जब यह सिद्ध हो गया कि 'सदेव' श्रुति कारण परक है तो अग्रेपद ने ब्रह्म के विसजातीय काल की सिद्धि हो ही जाती है। तथा जीवों के अनादित्व श्रुति के कारण 'अकृताऽभ्यागम् कृत विप्रणास' आदि की आपत्ति होगी किञ्च श्रुति के अर्थापत्ति के द्वारा ब्रह्म से जीवों का सूक्ष्म भेद मानना ही होगा। यही नहीं सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व आदि ब्रह्म की सृष्टि के अनुकूल गुण है, जीवका ब्रह्म से स्वगत भेद है। उनको भी मानना ही होगा। इस तरह सृष्टि काल में भी ब्रह्म में सजातीय, विसजातीय एवं स्वगत भेद बने रहते हैं यह मानना होगा, अतएव श्रुति उनका निषेध नहीं करती है। ऐसा मानने पर भी एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का निर्वाह हो ही सकता है। अतएव यही मानना चाहिये कि जीव इत्यादि परमात्मा के परतन्त्र हैं। 'एकमेव' श्रुति परमात्मा को जगत् का उपादान कारण बतलाती है। अतएव अद्वितीयम् श्रुति सृष्टि के लिए, आवश्यक एवं बुद्धिस्थ निमित्तान्तर का वारण करती है तथा ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त कारण भी बतलाती है। सर्व शाखाप्रत्ययन्यायश्चात्र— वाक्य का आशय है कि सर्वशाखा प्रत्यय न्याय से तो यही ज्ञात होता है कि ब्रह्म के जो गुण जहां पर नहीं कहे गये है उन गुणों का प्रतिपादन चूंकि अन्य शाखाओं में किया गया है अतएव उनको भी मान लेना चाहिये। सर्वशाखा प्रत्यय न्याय का फल गुणों का त्याग नहीं हो सकता है। अतएव यह न्याय तो आपके सिद्धान्त के विपरीत ही फल देने वाला होगा।

॥ निर्गुण एवं सगुण वाक्यों का परस्पर विरोध नहीं ॥

मूल—निर्गुणवाक्यविरोधः प्राकृतहेयगुणविषयत्वाद् तेषां 'निर्गुणम्' 'निरञ्जनम्' 'निष्कलं' 'निष्क्रियं' 'शान्तम्' इत्यादीनाम्। ज्ञानमात्रस्वरूपवादिन्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति। न तावता निर्विशेष ज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्, ज्ञातुरेव ज्ञान स्वरूपत्वात्। ज्ञान स्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणि दीपादिव द्युक्तमेवेत्युक्तम् ज्ञातृत्वमेव हि सर्वाः श्रुतयो वदन्ति॥ 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९) 'तदैक्षत' (छा० ६।२।३) 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) 'स ईक्षत लोकानु सृजाइति' (ऐ०आ०२।४।१।२) 'नित्यो नित्यानां चेतन-श्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (२।५।१३ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' (श्वे०१।९) "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्, तंदेवतानां परम च दैवतम्। पति पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" (श्वेत ६।७) 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चा-भ्यधिकश्च दृश्यते। परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वे० ६।८) एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सो-

ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्याद्याः श्रुतयो ज्ञातृत्व प्रमुखान् कल्याणगुणान् ज्ञान स्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वाभाविकान् वदन्ति समस्तहेयरहितताञ्च । निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्यानां च विषयमपहतपाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य सत्यकामः सत्यसंकल्प इति ब्रह्मणः कल्याण गुणान् विदधतीयं श्रुतिरेव विविनक्तीति सगुण निर्गुण वाक्य योर्विरोधाभावादन्यतरस्य मिथ्याविषयत्वश्रयणमपि नाशङ्कनीयम् ।

अनुवाद—यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि (शोधक 'सत्यं ज्ञानमि'त्यादि वाक्यों को ब्रह्म के सत्यत्व आदि गुणों का आपादक मानने पर ब्रह्म को निर्विशेष बतलाने वाले) निर्गुण वाक्यों से विरोध होगा, क्योंकि उन 'निर्गुणम्, 'निरञ्जनम्' 'निष्कलं' 'निष्क्रियं' शान्तम्' आदि निर्गुण वाक्यों का विषय ब्रह्म में प्राकृतिक त्याज्य गुणों का निषेध करना मात्र है। अद्वैती विद्वान् यदि यहाँ पर यह कहें कि ब्रह्म को ज्ञानमात्र बतलाया गया है। चूंकि ज्ञान (स्वयं गुण होने के कारण) ज्ञान आदि गुणों का आश्रय नहीं हो सकता है अतएव ब्रह्म का निर्गुणत्व ही फलित होता है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ब्रह्म के ज्ञानमात्र स्वरूप को बतलाने वाली भी श्रुतियाँ ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता को बतलाती हैं और इतने से यह नहीं सिद्ध

हो सकता है कि निर्विशेष ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, क्योंकि ज्ञाता ब्रह्म ही ज्ञान स्वरूप है अर्थात् ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप हो सकता है) ज्ञान स्वरूप ही ब्रह्म को ज्ञान का आश्रय उसी तरह मानना उचित है जिस तरह प्रकाश स्वरूप भी होकर मणि, सूर्य, दीप आदि प्रकाश के आश्रय हैं। यह मैं पहले कह चुका हूं। सभी श्रुतियाँ ब्रह्म के ज्ञातृत्व का ही प्रतिपादन करती हैं। वे हैं–

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' यह श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म सभी वस्तुओं को स्वरूपतः एवं प्रकारतः जानता है। (यह श्रुति ब्रह्म के ज्ञान के सर्वविषयत्व को बतलाती है) तदैक्षत– श्रुति ब्रह्म के ज्ञान को समष्टि सृष्ट्युपयोगी सूचित करती है। 'सेयं देवतैक्षत' श्रुति ब्रह्म ज्ञान के व्यष्टि सृष्ट्युपयोगित्व को बतलाती है। 'स ईक्षत ब्रह्म ने सत्य संकल्प किया कि निश्चय ही मैं लोकों की सृष्टि करूं' (यह श्रुति ब्रह्म के ज्ञान को समष्टि सृष्टि का उपयोगी तथा सृजा यह उत्तम पुरुष का पद उसको ब्रह्म सम्बन्धी बतलाती है।) (ज्ञाज्ञौ०) दोनों (क्रमशः ईश्वर एवं जीव) ज्ञानवान् तथा अज्ञ, नियामक एवं नियाम्य हैं। (यह श्रुति ब्रह्म के ज्ञानाश्रयत्व एवं नियामकत्व को बतलाती है।) और नियामक वही हो सकता है जिसे नियाम्यका ज्ञान हो। परं ब्रह्म नित्य जीवों से भी बढ़ कर नित्य तथा चेतन जीवों से बढ़कर चेतन है। वह अकेला भी अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। (यह श्रुति ब्रह्म के सर्व कामप्रदत्व नामक गुण को बतलाती। यदि उसे जीवों की कामनाओं का ज्ञान नहीं होगा तो फिर वह कैसे उन्हें पूर्ण

करता है ?) (तमीश्वराणाम्०) हम जगन्नियामक, स्तुत्य, दिव्य गुण सम्पन्न परं ब्रह्म से ज्ञान की प्रार्थना करते हैं-- जो सभी नियामकों से बढ़कर नियामक, सभी देवताओं से महान् देव सभी स्वामियों से बढ़कर स्वामी हैं। (यह श्रुति परं ब्रह्म के पतित्व नियामकत्व, देवत्व आदि गुणों का बतलाती है।) (न तस्य) उस परं ब्रह्म के (कार्य) शरीर इन्द्रियां आदि नहीं है, उसके समान अथवा उससे बढ़कर कोई नहीं है। इस परं ब्रह्म अनेक महती शक्तियां सुनी जाती हैं" उसको ज्ञान एवं बल से युक्त सृष्टि संहार आदि क्रियायें स्वाभाविक हैं। यह श्रुति परं ब्रह्म के समाभ्यधिक राहित्य का प्रतिपादन करती हुई, इसी अर्थ में अद्वितीय श्रुति का पर्यवसान बतलाकर ज्ञानत्व आदि को उसका स्वाभाविक गुण बतलाती है। (एष आत्मा०) यह परं ब्रह्म सभी पापों से रहित, जरा, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास से रहित तथा सत्यकाम, सत्य संकल्प वाला है। ये सभी श्रुतियां बतलाती हैं कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के ही ज्ञातृत्व आदि कल्याण गुण स्वाभाविक गुण हैं तथा वह परं ब्रह्म सभी त्याज्य दोषों से रहित है।

एष आत्मा इत्यादि श्रुति सगुण वाक्यों एवं निर्गुण वाक्यों के विषय का विभाग करते हुये अपहतपाप्मा से लेकर अपिपासः पर्यन्त भाग से ब्रह्म में सभी प्राकृतिक त्याज्य गुणों का अभाव बतलाकर उसी अर्थ के प्रतिपादन में निर्गुण वाक्यों का तात्पर्य तथा सत्यकामः सत्यसंकल्पः भाग से ब्रह्म के स्वाभाविक कल्याण गुणों के प्रतिपादन में सगुण वाक्यों का तात्पर्य बतलाती है।

चूँकि निर्गुण वाक्यों एवं सगुण वाक्यों के विषयों का आपस में कोई विरोधी ही नहीं है, अतएव किसी एक तरह के वाक्य को मिथ्या विषयक आपादक होने का भी शंका नहीं करनी चाहिये ।

टिप्पणी– निर्गुणम् इत्यादि श्रुति में निर्गुण श्रुति ब्रह्म में प्राकृतिक हेय गुणों का अभाव बतलाता है । निरञ्जनम् श्रुति ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, इस अर्थ का प्रतिपादन करती है । 'निष्कलम्' पद से श्रुति ब्रह्म के क्रिया सामान्य का निषेध करती है। शान्तम् पद ब्रह्म में षड्भि का अभाव बतलाती है ।

आनन्द वल्ली का भी विषय सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन

मूल–'भीषास्माद् वातः पवते' (तै०आ० ८।१) इत्यादिना ब्रह्म गुणानारभ्य 'ते ये शतम्' इत्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशियनुक्त्वा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' (तै०आ० २३) इति ब्रह्मणः कल्याण गुणानन्त्यमत्यादरेण वदतीयं श्रुतिः । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता । (तै० २।१।१) इति ब्रह्मवेदन फलमवगमयद् वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति । विपश्चिता ब्रह्मणा सह

सर्वान् कामान् समश्नुते। काम्यन्त इति कामाः—कल्याण गुणाः। ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वानश्नुत इत्यर्थः। दहर विद्यायां 'तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (छा० ८।१।१) इतिवद् गुण प्राधान्यं वक्तुं सहशब्दः। फलोपासनयोः प्रकारैक्यं 'यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१४।१) इति श्रुत्यैव सिद्धम्।

अनुवाद— अद्वैती विद्वानों का कहना है कि तैतिरीयोपनिषद् की 'यतोवाचो' इत्यादि श्रुति ब्रह्म को वाणी एवं मनका अविषय बतलाती है अतएव ब्रह्म को निर्गुण ही मानना चाहिये। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद की श्रुति 'उसी परं ब्रह्म के भय से वायु चलती है' इत्यादि वाक्य से ब्रह्म के गुणों को प्रारम्भ करके 'वे जो सौ आनन्द हैं' इत्यादि क्रम से जीवों के आनन्द की पराकाष्ठा को बतलाकर 'उसकी सीमा को नहीं प्राप्त कर मन के साथ वाणी निवर्तित हो जाती है। ब्रह्म के उस आनन्द को अनन्त रूप से जानने वाला उपासक' इत्यादि श्रुति ब्रह्म के कल्याण गुणों की अनन्तता का अत्यन्त आदर के साथ प्रतिपादन करती है। 'वह (ब्रह्मज्ञानी) सभी काम्य कल्याण गुणों को विपश्चित (निरुपाधिक अनन्याधीन एवं असंकुचित सर्ववस्तुविषयक ज्ञानवान्) ब्रह्म के साथ प्राप्त कर

लेता है।" यह श्रुति ब्रह्म ज्ञान का फल बतलाते हुए विपश्चित् परं ब्रह्म के गुणों की अनन्तता को बतलाती है। विपश्चित् ब्रह्म के साथ सभी कामों को प्राप्त कर लेता है। यहां पर 'काम्यन्ते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काम शब्द से कल्याण गुण ही कहे गये हैं। जीव ब्रह्म के साथ उसके सभी गुणों को प्राप्त कर लेता है, यही श्रुति का तात्पर्य है। दहर विद्या में "उस दहराकाश का जो अन्तर्वर्ती ब्रह्म है। उसको (श्रवण मनन के द्वारा) जानना एवं ध्यान करना चाहिए। इस वाक्य के समान गुण को ही प्रधानता बतलाने के लिए यहां सह शब्द का प्रयोग किया गया है। फल एवं उपासना की एकता– इस लोक में पुरुष जैसी उपासना करता है। उसी प्रकार फल को देहपात के पश्चात् प्राप्त करता है' इस श्रुति से ही सिद्ध होती है।

टिप्पणी– क्षेत्र आनन्दातिशययुक्त्वा– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि यदि इस प्रकरण के द्वारा श्रुति को निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन अभिप्रेत होता तो फिर श्रुति को क्रमशः गुणों की न्यूनता बतलाकर अन्त में उसका पर्यवसान सब के अभाव में करना चाहिए था, किन्तु यहां तो क्रमशः गुणों का आधिक्य बतलाकर उसके आनन्त्य के कारण वाणी और मन की निवृत्ति बतलायी गयी है। जैसा कि स्मृति कहती है कि–

संख्यातुं नैव शक्यन्ते गुणा दोषाश्च शार्ङ्गिणः।
आनन्त्यात्प्रथमो राशिरभावादेव पश्चिमः॥

अर्थात भगवान् के गुणों एवं दोषों की संख्या इसलिए नहीं बतलायी जा सकती है कि उनके गुणों का कोई अन्त नहीं है और भगवान् में दोषों का बिल्कुल अभाव है।

इसी तरह इस प्रकरण में भी श्रुति पहले मानवानन्द की चरम सीमा बतलाती हुई कहती है। 'साधुयुवाध्यापकः इत्यादि। अर्थात् सम्प्रदाय पुरस्सर जिसको विस्मरण नहीं हो सके ऐसा वेद का अध्ययन करने वाला स्वस्थ्य एवं सम्पूर्ण प्रजा का अनुरञ्जक, मनोबल एवं शारीरिक बल सम्पन्न राजा की सप्तद्वीपा वसुमती धनधान्य समृद्ध हो, उसको जो आनन्द होता है, उसे मानव का एक आनन्द कहा जाता है। यह श्रुति गुण समुदाय एवं विभूति पुष्कल्य को आनन्द बतलाती है। ज्ञान की अनुकूलता को ही आनन्द कहते हैं। और आनन्द की चरम सीमा के द्वारा ब्रह्मानन्द के एक गुण का पता लगाने का प्रयास श्रुति करती है। जब श्रुति की यह स्थिति है तो प्राकृतिक इन्द्रियों की क्या बात ? अतएव यहां पर श्रुति 'नेमेशतम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्राप्त ब्रह्मानन्द के एतावत्वका ही प्रतिषेध 'यतो वाचो' इत्यादि श्रुति ने करती है, और ब्रह्म के गुणों का आनन्त्य बतलाना चाहती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण का पर्यवसान निर्विशेष वस्तु के प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता है।

गुणानन्त्यमत्यादरेण— का अभिप्राय है कि 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' यह श्रुति ब्रह्म के गुण भूत आनन्द के ही ज्ञान का अत्यन्त आदर देती है, और ब्रह्म गुणों के ज्ञान का महत्व देती

है। यहां श्रुति गुणों का महत्व ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा अधिक बतलाती है।

॥ ब्रह्म के ज्ञेयत्व निषेध का खण्डन ॥

मूल—'यस्यामतं तस्य मतम्—अविज्ञातं विजानताम्' (के० ११) इति ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वमुक्तमिति चेत् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इतिज्ञानान्मोक्षोपदेशो न स्यात् "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेदचेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः। (तै० २।६।१) इति ब्रह्मविषये ज्ञानासद्भाव सद्भावाभ्यामात्मनाशम् आत्मसत्तां च वदति अतो ब्रह्म विषय वेदनमेवापवर्गोपायं सर्वाः श्रुतयो विदधति। ज्ञानञ्चोपासनात्मकम्, उपास्यं च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'(तै० २।४।१) इति ब्रह्मणोऽनन्तस्यापरिच्छिन्न गुणस्य वाङ्मनसयोरेतावदिति परिच्छेदायोग्यत्वश्रवणेन ब्रह्मैतावदिति ब्रह्म परिच्छेद ज्ञानवतां ब्रह्मविज्ञातम् अमतामित्युक्तम्, अपरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मणः। अन्यथा 'यस्यामतं तस्य मतम् विज्ञानमविजानताम्' (के० ११) इति ब्रह्मणो मतत्व विज्ञातत्व वचनं तत्रैवविरुध्यते।

अनुवाद– अद्वैती विद्वान् यदि यह कहें कि 'यस्यामतम्' जो ब्रह्म को मनन का विषय नहीं जानता उसी ने ब्रह्म का मनन किया है, ज्ञानियों को ब्रह्म के विशेष रूप ज्ञान नहीं होता।' इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म को ज्ञान का अविषय बतलाती हैं तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं बनता तो फिर निम्न श्रुतियां ब्रह्म ज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं बतलाती। वे हैं– 'ब्रह्म जानने वाला परम पद को प्राप्त करता है' जो परं ब्रह्म का प्रीतिरूपापन्न दर्शन समानाकारोपासना करता है वह मुक्त होकर आविर्भूतगुणाष्टक हो जाता है। निम्न श्रुति ब्रह्म ज्ञान के असद्भाव को आत्मनाश का कारण तथा ज्ञान के सद्भाव को आत्मसत्ता का कारण बतलाती है। वह श्रुति है– "यदि कोई ब्रह्म की सत्ता नहीं स्वीकार करता है तो उसकी भी सत्ता समाप्त हो जाती है' जो व्यक्ति ब्रह्म है इस प्रकार से जानता है, उसके इस प्रकार के ज्ञान के ही कारण शास्त्रों के जानकार उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। अतएव ब्रह्म विषयक ज्ञान को ही मोक्ष के साधन रूप से सभी श्रुतियां विधान करती हैं। (अब यहां पर यह प्रश्न उठता है कि मोक्ष साधन भूत ब्रह्म ज्ञान का स्वरूप क्या है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं,) वह ज्ञान उपासनात्मक है। और पहले यह कहा जा चुका कि उपास्य सगुण ब्रह्म ही है। (क्योंकि सद्विद्या का विषय सगुण ब्रह्म ही है।

'मन के साथ वाणी जिसकी सीमा को न प्राप्तकर लौट

आती है, चूँकि यह श्रुति ब्रह्म के अनन्त एवं सीमातीत गुणों के ऐतावत्व को मन और वाणी का अविषय बतलाकर उनके परिच्छेदायोगत्व का प्रतिपादन करती है, अतएव ब्रह्म के स्वरूप रूप, गुण, विभूति लीलाधाम इतना ही हैं इस तरह से सीमित रूप में जानने वालों के लिए 'यस्यामतम्' श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म को परिच्छिन्न (सीमित) रूप में न तो जाना जा सकता है और न तो मनन ही किया जा सकता है। क्योंकि अनन्त स्वरूप होने के कारण ब्रह्म (के स्वरूप, रूप, गुण आदि) असीमित हैं।

यदि ऐसा नहीं माना जाय तो फिर 'यस्यामतम्' इस तरह से ब्रह्म को मनन का विषय बतलाने वाली तथा विज्ञान का विषय बतलाने वाली श्रुति का बड़ी विरोध होगा। (अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं बनता है।

॥ ब्रह्म के ज्ञातृत्व निषेध का खण्डन ॥

मूल--यत्तु 'न दृष्टेर्द्रष्टारं न मतेर्मन्तारम्' इति श्रुति दृष्टेर्म तेर्व्यतिरिक्तं द्रष्टारं मन्तारं च प्रतिषेधतीति तदागन्तुक चैतन्यगुणयोगितया ज्ञातुरज्ञान स्वरूपतां कुतर्क सिद्धां मत्वा न तथात्मानं पश्ये, न मन्वीथाः अपितु द्रष्टारं मन्तारमप्यात्मानं दृष्टिमतिरूपमेव पश्येरित्यभिदधातीति

परिहृतम् । अथवा दृष्टेर्द्रष्टारं मतेमन्तारं जीवात्मानं प्रतिषिद्ध्य सर्वभूतान्तरात्मानं परमात्मानमेवोपास्स्वेति वाक्यार्थः । अन्यथा 'विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्' इत्यादि ज्ञातृत्व श्रुति विरोधश्च ।

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि 'दृष्टि (स्वरूप आत्मा को देखने वाले तथा मति स्वरूप आत्मा को मनन करने वाले का (दर्शन मनन न करो) यह श्रुति दृष्टि और मति (स्वरूप आत्मा) से व्यतिरिक्त उसको देखने और मनन करने वाले (अपनी दृष्टि और मन का विषय बनाने वाले) का निषेध करती है तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा को अनित्य ज्ञान गुणवान् होने के कारण ज्ञाता आत्मा को कुतर्क के द्वारा अज्ञान स्वरूप मानकर उस तरह से आत्मा को न देखो और न तो मनन करो बल्कि देखने वाले और मनन करने वाले भी आत्मा को दृष्टि एवं मति रूप ही देखो यही उपर्युक्त श्रुति कहती है । इस तरह से अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का खण्डन हो गया ।

अथवा (उपर्युक्त श्रुति का) दृष्टि को भी देखने वाले, मति को भी मनन करने वाले जीवात्मा का निषेध करके, सभी भूतों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले परमात्मा की ही उपासना करो, यही उपर्युक्त वाक्यार्थ है । ऐसा नहीं मानने पर 'अरे सभी वस्तुओं को विशेष रूप से जानने वाले परमात्मा को

किस साधन के द्वारा जाना जाय, इत्यादि परमात्मा के ज्ञातृत्व गुण का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का विरोध होगा।

टिप्पणी– आगन्तुक चैतन्यगुणयोगितया– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि वैज्ञानिक विद्वान् आत्मा को ज्ञान स्वरूप न मानकर जड़रूप मानते हैं, ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक (अनित्य) गुण मानते हैं। उनका यह कथन तर्क प्रमाण रहित होने के कारण कुतर्क मात्र है। वे अपने अपने कुतर्क का प्रदर्शन करते हुये कहते हैं– आत्मा ज्ञानस्वरूपो न भवति तस्य ज्ञानस्य आगन्तुकत्वात्, गुणत्वाच्च। किन्तु वैशिषिकों के उपर्युक्त तर्क का खण्डन 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र में खूब अच्छी तरह से किया गया है और ज्ञान गुणवान् आत्मा को ज्ञानस्वरूप सिद्ध किया गया है। प्रस्तुत 'नदृष्टेर्द्रष्टारम्' श्रुति आत्मा को ज्ञान स्वरूप ही बतलाती है।

अथवा इत्यादि– वाक्य का अभिप्राय है कि उपर्युक्त श्रुति का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि दृष्टि, मति, को देखने एवं मनन करने वाला जीवात्मा को ही मानकर परमात्मा को ही मानना चाहिये और ऐसा मानकर उसी की उपासना करनी चाहिये।

॥ आनन्द एवं आनन्दी में विरोध नहीं ॥

मूल- 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यानन्दमात्रमेव ब्रह्म स्वरूपं प्रतीयते इति यदुक्तम्। तज्ज्ञानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं स्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ५।९।२८) इत्यानन्द रूपमेव विज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थः । अतएव भवतामेकरसता । अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि श्रुतिशत समधिगतमित्युक्तम् तद्वदेव-- 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' (तै० २।८।७) आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' (तै० २।९।१) इति व्यतिरेक निर्देशाच्च नान्दमात्रं ब्रह्म । अपि त्वानन्दि, ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम् ।

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों का यह जो कहना है कि 'आनन्दो ब्रह्म' इस श्रुति से ब्रह्म का आनन्द मात्र ही स्वरूप प्रतीत होता है, तो उसका खण्डन किया जा चुका है कि उपर्युक्त श्रुति ज्ञान के आश्रय (ज्ञानवान्) ब्रह्म को ही ज्ञान स्वरूप बतला रही है। क्योंकि जो ज्ञान अनुकूल प्रतीति होता है, वही आनन्द शब्द से अभिहित होता है। (यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि तो फिर 'विज्ञानमानन्दब्रह्म' इस वाक्य में पर्यायता नामक दोष होगा, अतएव इसे सामानाधिकरण्य वाक्य नहीं माना जा सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रुति में आनन्द रूप विज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, ऐसा बतलाया गया है। (अर्थात स्वयं प्रकाशत्व एवं अनुकूलत्व रूप निमित्त के भेद के कारण उपर्युक्त वाक्य में पर्यायता दोष नहीं होगा।) अतएव इत्यादि– ज्ञान एवं आनन्द शब्द की एक विषयता के ही कारण आपके भी मत में ब्रह्म की एक रसता है। (अन्यथा अद्वैत सिद्धान्त

में भी विज्ञान एवं आनन्द की भिन्नता होने पर उनके भी मत में ब्रह्म की एक रसता नहीं बन सकती है ।)

यह पहले कहा चुका है कि इस ज्ञात स्वरूप ही ब्रह्म का ज्ञातृत्व भी सैकड़ों श्रुतियाँ बतलाती हैं । इसी तरह 'ब्रह्म का एक आनन्द है' 'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला' इन श्रुतियों में व्यतिरेक निर्देश के कारण सिद्ध होता है कि ब्रह्म आनन्द मात्र ही न होकर आनन्दवान् भी है। क्योंकि ज्ञातृत्व ही आनन्दित्व है।

टिप्पणी– ज्ञातृत्वमेव इत्यादि वाक्य में एवकार के प्रयोग से इस अर्थ को सूचित किया गया है कि आनन्दित्व ज्ञातृत्व से भिन्न नहीं है । हि शब्द ज्ञातृत्व ही आनन्दित है इस अर्थ के औचित्य की सूचना देता है । अनुकूल ज्ञान के आश्रय को ही आनन्दी कहते हैं । अद्वैती विद्वान् ब्रह्म के ज्ञानाश्रयत्व का और आनन्दाश्रयत्व का निषेध करते हैं, यहाँ पर इस अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है कि ज्ञातृत्व श्रुति का अद्वैती विद्वानों के विचार से विरोध होगा।

मूल -यदिदमुक्तम्— "यत्र हि द्वैतमिव भवति" वृ० ४।४।१४) "नेह नानास्ति किञ्चन ।" मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।' (वृ० ६।४।१९) "यत्र त्वस्य सर्व मात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (वृ० ४।४।१४) इति भेद निषेधो बहुधा दृश्यत इति, तत्कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्म

कार्यतया तदन्तर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात् तत्प्र-त्यनीक नानात्वं प्रतिषिध्यते। न पुनः-बहुस्यां प्रजायेयेति बहुभवन संकल्प पूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुतिसिद्धं प्रति षिध्यत इति परिहृतम्। नानात्वनिषेधादियमपरमार्थं विषयेति चेत्, न, प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणानवगतं नाना त्वं दुरारोहं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहास्य-मिदम्। 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।' (तै० २।६।२) इति ब्रह्मणि नानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्, तदसत्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३ ।१४।१) इति तन्नानात्वानुसंधानस्य शान्ति हेतुत्वोपदेशात् तथा हिसर्वस्य जगतः तदुत्पत्ति-स्थिति-लयकर्मतया तदा-त्मकत्वानुसंधानेनात्र शान्तिर्विधीयते, अतो यथावस्थित देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदभिन्नं जगत् ब्रह्मात्मकमित्यनु-संधानस्य शान्तिहेतुतया अभयप्राप्तिहेतुत्वेन न भयहेतुत्व प्रसङ्गः।

एवं तर्हि— 'अथ तस्य भयं भवति' इति किमुच्यते ? इदमुच्यते, "यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽ-

निरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयङ्गतो भवति' (तै० २।७।२) इत्यभयप्राप्तिहेतुत्वेन ब्रह्मणि या प्रतिष्ठाऽभिहिता, तस्या विच्छेदे भयं भवतीति । यथोक्तं महर्षिभिः—

'यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ॥
(ग० पु० पू० ख० २२२।२२)

इत्यादि, ब्रह्मणि प्रतिष्ठाया अन्तरमवकाशो विच्छेद एव ।

यदुक्तम्— "न स्थानतोऽपि" (ब्र०सू० ३।३।११) इति सर्वविशेष रहितं ब्रह्मेति वक्ष्यतीति, तन्न, सविशेषं ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति । 'मायामात्रं तु' (ब्र०सू० ३।३।३) इति स्वाप्नानाप्यर्थानां जागरितावस्थानुभूतपदार्थ वैधर्म्येण मायामात्रत्वम् उच्यत इति जागरितावस्थानुभूतानामिव पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति ।

अनुवाद— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि--'जब कि भेद की तरह प्रतीत होता है ' यहाँ पर भेद कुछ भी नहीं है जो इस संसार में भेद की तरह देखता है, वह बार-बार जन्म मरण के चक्र में पड़ता है।' 'जब कि ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् आत्मा रूप ही हो जाता है तो फिर वह किस साधन के द्वारा

किसको देखे।' इन सभी श्रुतियों द्वारा अनेक प्रकार से भेद का निषेध देखा जाता है।

तो इसका खण्डन हो चुका है– क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का कार्य है, ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् के भीतर रहकर उसका अन्तर्यामी रूप से नियमन करता है और सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है। अतएव शरीर शरीरीभाव के कारण जगत् और ब्रह्म की एकता सिद्ध हो जाती है। उपर्युक्त (शरीरात्मभाव एवं शरीर शरीरी भाव रूप से विहित) एकता के विरोधी नानात्व का ही यत्र हि द्वैतमिव' इत्यादि श्रुतियों से) निषेध किया जाता है। 'मैं एक से अनेक हो जाऊँ तदर्थ प्रकृष्टरूप से उत्पन्न होऊँ" इस तरह ब्रह्म के एक से अनेक होने के संकल्प पूर्वक उसके श्रुतियों से सिद्ध नानात्व का निषेध नहीं किया जाता है।

यदि यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ भेद का निषेध करती हैं। अतएव यह (एकोऽहं बहु स्याम) श्रुति अपरमार्थ (मिथ्या) विषयों का प्रतिपादन करती है, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्म का नानात्व प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं था, उस नानात्व का प्रतिपादन करके श्रुति पुनः उसका बाध करती हैं, यह कहना उपहासास्पद है।

अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि "मुमुक्ष जब ब्रह्म में थोड़ा सा भी भेद करता है, तो उसको भय होता है।" यह श्रुति ब्रह्म में नानात्व (भेद) दर्शन को भय प्राप्ति का हेतु बत-

लाती है तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि– "यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। शम गुणोपेत मुमुक्षु सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के आश्रय रूप से ब्रह्म की ही उपासना करे" यह श्रुति ब्रह्म के नानात्वानुसंधान को शान्ति (रूपी मोक्ष) के कारण रूप से उपदेश करती है।

वह इस तरह से है– सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसी ब्रह्म के द्वारा होने के कारण सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्मात्मकत्वानुसंधान होने से ही शान्ति का विधान किया जाता है। (इस श्रुति में केवल ब्रह्म के अनुसंधान को ही शान्ति का हेतु नहीं बतलाकर सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का शरीर होने से उसी को ब्रह्म रूप से अनुसंधान का उपदेश दिया गया है। सर्व शब्द के भेद युक्त प्रपञ्च का वाचक होने के कारण नानात्व विशिष्ट ही ब्रह्मानुसंधान का विधान यह श्रुति करती है।) अतएव जैसा कि देव, तिर्यक्, मनुष्य एवं स्थावर आदि भेद से युक्त जगत् के ब्रह्मात्मकत्वानुसंधान का हेतु होने के कारण वह अभय प्राप्ति का हेतु है, अतएव भय प्राप्ति के हेतु का कोई प्रसङ्ग नहीं है।

यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि– तो फिर 'अथ तस्य भयं भवति' यह श्रुति क्या बतलाती है? तो वह श्रुति यह बतलाती है कि– 'जब कि यह मुमुक्षु इस-- चक्षुरादि इन्द्रियों के अविषय भूत, प्राकृत शरीर रहित, देव आदि पदों द्वारा अवाच्य, आधार शून्य अभय प्राप्ति के लिए उसके साधन भूत परं ब्रह्म के निरन्तर

स्मरण रूप निष्ठा प्राप्त कर लेता है। फिर वह भय रहित हो जाता है।' इस श्रुति में अभय प्राप्ति के साधन रूप से ब्रह्म में (निरन्तर स्मरण रूप) जो प्रतिष्ठा बतलायी गयी है। उसी का विच्छेद होने पर भय होता है, यह श्रुति कहती है। जैसा कि महर्षियों ने कहा है– "जो कि किसी मुहूर्त अथवा क्षण में भगवान वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता है, वही इष्ट की हानि है, अनिष्ट प्राप्ति का महान् साधन है, वह चित्तस्खलन रूप भ्रान्ति है, और वही विकार है।" ब्रह्म में निरन्तर स्मरण रूप प्रतिष्ठा का अन्तर यानी अवकाश ही विच्छेद है।

अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि 'न स्थानतोऽपि' इस सूत्र में स्वयं सूत्रकार ब्रह्म को सभी विशेषों रहित बतलायेंगे, तो ऐसी भी बात नहीं हैं, वहाँ सूत्रकार सविशेष ही ब्रह्म है। ऐसा बतलायेंगे। 'मायामात्रं तु' इस सूत्र में स्वप्नकाल में प्रतीत होने वाले विषयों के जागरितावस्था में अनुभव किये गये पदार्थ के वैधर्म्य के कारण, उनका (विचित्र कार्यकरत्वरूप) मायामात्रत्व बतलाया गया है, अतएव जागरितावस्था में अनुभव किये गये पदार्थों के ही समान, स्वाप्न पदार्थों पारमार्थिकत्व ही सूत्रकार बतलायेंगे।

टिप्पणी– तदन्तर्यामिकतया पद में– तत् पद विशेष्य का परामर्शक है। तत् ब्रह्म अन्तर्यामी यस्य तत् तदन्तर्यामिकम्, तस्यभावस्तया, तेन, 'तदन्तर्यामिकतया' यह उपर्युक्त पद का विग्रह समझना चाहिए। चूँकि ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि

एवं लय का हेतु है, 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः' यह श्रुति ब्रह्म को जगत् के अन्तः मे प्रवेश करके नियामकत्व की सिद्धि करती है।

न, प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणानवगतमित्यादि– वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्मात्मक भेद का निषेध मानना उचित नहीं है। क्योंकि जहां पर प्राप्त विषय हो उसी का अनुवाद करके पुनः निषेध किया जाता है। ब्रह्म के विषय में तो ऐसी बात है नहीं। ब्रह्म का भेद प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण के द्वारा ज्ञात नहीं है। फिर भी उस भेद का प्रतिपादन करके श्रुति 'उसका निषेध करती है, यह कहना उपहास्य है। अतएव यही मानना ठीक है कि भेद के निषेधक श्रुतियों का विषय अब्रह्मात्मक भेद है, अर्थात् अब्रह्मात्मक भेद का ही 'यत्र द्वैतमिव भवति' इत्यादि श्रुति निषेध करती है। ब्रह्मात्मक भेदका निषेध उपर्युक्त श्रुतियों का विषय नहीं है।

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितमितरं पश्यति, यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" इस श्रुति का सिद्धान्त में अर्थ है कि जब मुमुक्षु को अपने में ही भेद की प्रतीति सी होने लगती है तो स्वनिष्ठद्रष्टा स्वनिष्ठ द्रष्टव्य को स्वनिष्ठ दर्शन के साधन से देखने लगता है, जब कि वह परमात्मक रूप से सम्पूर्ण जगत् का साक्षात्कार कर लेता है तो फिर कौन स्वनिष्ठ द्रष्टा किस स्वनिष्ठद्रष्टव्य को किस स्वनिष्ठ दर्शन साधन से देखे। श्रुत प्रकाशिकाकार इस प्रसङ्ग में अपने आचार्य के एक श्लोक को उद्धृत किये हैं, वह है–

यद् ब्रह्मणो गुणशरीर विकार भेद कर्मादिगोचर विधिप्रति-षेधवाच: ।

अन्योन्य भिन्न विषया न विरोधगन्धमर्हन्ति तन्नविधय: प्रतिषेधवाया: ।

अर्थात्– ब्रह्म के गुण, शरीर, कार्य, भेद, कर्म आदि के विषय में विधि वाक्य एवं निषेध वाक्य मिलते हैं, उनमें परस्पर विषयों की भिन्नता के कारण, कोई विरोध नहीं है। चूंकि विरोध होने पर भी बाध्य बाधक भाव की प्रवृत्ति होती हैं अतएव निषेध वाक्यों के विधि वाक्य बाधभूत नहीं हो सकते हैं।

पुराणवद्व-स्मृतियों तथा पुराणों द्वारा सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन

मूल–स्मृति पुराणयोरपि निर्विशेषज्ञानमात्रमेव परमार्थोऽन्य-दपारमार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितम्, तदसत्–

"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम् ।"

(गी० १०।३)

"मत्स्थानिसर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थित: ।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्यमे योगमैश्वरम् ।
भूत भृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन: ॥"

(गी० ९।४।५)

"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥"गी०७।६।७)
"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।"

(गी० १०।४२)

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
तस्माल्लोके च वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

(गी० १५।१७।१८)

अनुवाद– अब तक यह बतलाया गया है सामान्यत सभी प्रमाण एवं उसका एक भेद भूत शब्द प्रमाण भी सविशेष ही वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, अतएव यह सिद्ध होता है कि शास्त्र प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है । चूंकि वेदान्त वाक्य सविशेष ही वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, अतएव स्मृति पुराण भी श्रुत्यनुगामी होने के कारण सविशेष ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि अद्वैती विद्वान् जिन स्मृतियों एवं पुराणों के वाक्यों को निर्विशेष वस्तु की सिद्धि हेतु उद्धृत किया है, वे भी वाक्य सविशेष ही वस्तु

का प्रतिपादन करते हैं, यह पूर्वापर पर्यालोचन से ज्ञात होता है। कहने का अभिप्राय है कि जिस तरह शास्त्र लौकिक प्रमाण एवं श्रुति के विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन नहीं करते हैं, उसी तरह स्मृतियां एवं पुराणों के वाक्य भी पूर्वापर वाक्यों के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

सब कुछ अविद्याकल्पित स्वीकार किये जाने के कारण, स्वाभाविक वक्ता के वैषम्य को नहीं स्वीकार करके तथा अद्वैत की स्पष्टता के भ्रम के कारण अद्वैती विद्वानों ने सर्व प्रथम पुराण वाक्यों को उद्धृत करके इसके बाद गीता के वाक्यों को उद्धृत किया है। श्रीभाष्य में स्वाभाविक वक्तृवैषम्य को स्वीकार किये जाने के कारण भगवान् के अनन्त गुण, अनन्त विभूतियों आदि के स्पष्ट होने के कारण सर्व प्रथम गीता के वाक्यों को पहले उद्धृत करके इसके पश्चात् पौराणिक वचनों को उद्धृत किया जाता है। 'स्मृति पुराणयोरपि इत्यादि'– प्रतीत होता है कि स्मृतियों एवं पुराणों में भी प्रतिपादन किया गया है कि निर्विशेष ज्ञानमात्र ही परमार्थ है, तद् व्यतिरिक्त अपारमार्थिक है, यह जो अद्वैती विद्वानों ने कहा है, वह उचित नहीं है।

'जो मुझको अज, अनादि एवं लोकों के स्वामी रूप से जानता है, (इस वाक्य में अज पद के प्रयोग से जड़ा प्रकृति एवं बद्धजीवों से परमात्मा की भिन्नता सिद्ध की गई है। अनादि पद के प्रयोग से परमात्मा की मुक्तों से भिन्नता, तथा लोक महेश्वर पद के प्रयोग से नित्यमुक्तों से भिन्नता सिद्ध होती है। लोक्यते इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक पद त्रिविध चेतनाचेतन का वाचक है।)

"सारे भूत मुझ में स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। तथा वे भूत (भी) मुझ में स्थित नहीं हैं। मेरे सर्व शक्ति योग को तुम देखो। मैं भूतों को धारण करने वाला हूँ। पर भूतों में स्थित नहीं हूँ। मेरा सत्य संकल्प रूपी ज्ञान सभी भूतों की सत्ता का अनुवर्तक है।" "मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का स्थान हूँ। हे अर्जुन! मुझसे बढ़कर कुछ नहीं है, सूत पर टिकी हुई माला की मणियों के समान, मुझ पर ही यह जड़ चेतन जगत् आश्रित है। "मैं अपने संकल्प के एक अंश के द्वारा धारणकर स्थित हूँ। "किन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा कहलाता है। और जो विकार रहित ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है। चूंकि मैं क्षर जीवों से बढ़कर और अक्षर (मुक्त) जीवों से भी उत्तम हूँ इसीलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

टिप्पणी–यहाँ पर पुरुषोत्तम शब्द के समास के विषय में यह शंका होती है कि यहाँ कौन सा समास है? उत्तमश्चासौ पुरुषः यदि यह विग्रह माना जाय तो फिर 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इस सूत्र से उत्तम पद का पूर्व निपात होकर उत्तम पुरुष रूप बनेगा। यहाँ निर्धार का अभाव होने से षष्ठी या सप्तमी समास भी संभव नहीं है। अतएव कौन सा समास हो? इस शंका का समाधान करते हुए श्रुत प्रकाशिकाकार का कहना है कि जिस तरह 'नागोत्तमादि च सिद्धं भवति' इस महाभाष्य की उक्ति के अनुसार पाणिनि आदि पदों में निर्वाह होता है।

उसी तरह पुरुषोत्तम शब्द में भी समझना चाहिए। अथवा यहां पर "अक्षरादपि चोत्तमः" इस सूक्ति को देखते हुए पञ्चमी समास मान लेना चाहिए। अब रही उत्तम शब्द के पूर्व निपात की बात तो इसका उत्तर है कि समानाधिकरण्य की विवक्षा में ही पूर्व निपात होता है, उसकी अविवक्षा में नहीं। अतएव पाणिनीयानुशासन भङ्ग का भी कोई प्रसंग यहां नहीं है।

मूल—"स सर्वभूत प्रकृतिं विकारान् गुणादि दोषांश्च मुने व्यतीतः। अतीत सर्वावरणोऽखिलात्मा, तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले। समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ, स्वशक्ति लेशाद्धृत भूत सर्गः। इच्छागृहीताऽभिमतोरुदेहः, संसाधिताशेष जगद्धितोऽसौ तेजो। बलैश्वर्यमहावबोध सुवीर्य शक्त्यादि गुणैकराशिः। परः पराणां सकलान यत्र, क्लेशादयः सन्ति परावरेशे॥ स ईश्वरो व्यष्टि समष्टि रूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः। सर्वेश्वरः सर्वदृक्सर्व वेत्ता, समस्त शक्तिः परमेश्वराख्यः। स ज्ञायते येन तदस्त दोषं, शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम्। संदृश्यतेवाप्यधिगम्यते वा, तज्ज्ञानमज्ञान मतोऽन्यदुक्तम्॥"

वि० पु० ६।५।८३

अनुवाद— (अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में कहा है कि स्मृति पुराणों के वाक्यों द्वारा निर्विशेष वस्तु की ही सिद्धि होती

है। इस अर्थ का खण्डन करते हुए भगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं कि– स्मृतियों और पुराणों के वाक्यों द्वारा भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रपिादन होता है। अपने इस कथन की सिद्धि के लिए भगवान् रामानुजाचार्य ने गीता के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया जिससे सविशेष ही ब्रह्म की सिद्धि होती है। प्रस्तुत अनुच्छेद में आप श्रीविष्णु पुराण के ऐसे तेरह स्थलों के वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिससे सविशेष ही ब्रह्म की सिद्धि होती है जो निम्न प्रकार से है।

स सर्वभूत प्रकृतिम् इत्यादि– श्री पराशर महर्षि मैत्रेयजी से कहते हैं– 'हे मुने ! वे (सम्पूर्ण जगत् का नियामक एवं सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त वासुदेव) सभी भूतों की (मूलकारणभूता) प्रकृति उसके (महद् आदि) विकार (सत्वरज एवं तमस् रूप) गुण आदि (गुणों के कार्यभूत सुख दुःख आदि) से रहित (अर्थात् कर्मजन्य संवन्ध रहित) हर प्रकार के अज्ञान आदि से (त्रिकाल में भी) रहित और सम्पूर्ण जगत् की आत्मा भूत हैं, दोनों विभूतियों में जो कुछ भी है वह परमात्मा के ही द्वारा व्याप्त है (६।५-८३) (यह श्लोक परं ब्रह्म को चिदचिद्विलक्षण बतलाता है।) वे भगवान् वासुदेव स्वभावतः सभी कल्याण गुणों से युक्त हैं, अपनी विचित्र शक्ति के एक अंश से सम्पूर्ण जगत् को धारण किए हुए हैं, अपनी इच्छामात्र से वे अपने मनोनुकूल पूज्य देह को धारण किया करते हैं और ये भगवान् सम्पूर्ण जगत् के हित (कल्याण के साधन) किया करते हैं। (वि० पु० ६।५।८४) यह

श्लोक भगवान् के कल्याणाकरत्व तथा दिव्य देह युक्तत्व का प्रतिपादन करता है। भगवान् वासुदेव मंगलमय सर्वातिशायी, तेजबल, ऐश्वर्य, ज्ञान, वीर्य एवं शक्ति आदि गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। जो परावर सभी तत्वों के नियामक भगवान् अपने स्वरूप विग्रह (शरीर) एवं गुणों के द्वारा सबों से महान् हैं तथा जिनमें (कर्म फल भोग) क्लेश आदि (कर्म, विपाक एवं आशय आदि) का गन्ध भी नहीं है। (यह श्लोक भगवान् की षाड्गुण्यवत्ता का प्रतिपादन करता है।) इस श्लोक में प्रयुक्त महत् शब्द अपरिच्छिन्नता का तथा सुशब्द मङ्गलमयत्व का वाचक है। इन दोनों शब्दों का भगवान् के सभी गुणों के साथ अन्वय समझना चाहिए।) वे भगवान् (व्यूह रूप से) व्यष्टि शरीरक तथा श्री रामकृष्णादि विभवरूपों से समष्टि शरीरक हैं। वे (पररूप से) अव्यक्त स्वरूप (तथा व्यूहादि रूपों से) व्यक्त स्वरूप हैं। ऐसा होने पर भी वे सर्वेश्वर (सबों में व्याप्त होने के कारण सबों के नियामक सभी वस्तुओं को स्वरूपतः एवं प्रकारतः जानने के कारण) सर्वद्रष्टा एवं सर्वज्ञ हैं। वे सभी (अपृथक् सिद्ध विशेषणरूप) शक्तियों से युक्त तथा परमेश्वर हैं। अखिलहेय प्रत्यनीक होने के कारण सभी दोषों से रहित (अखिल कल्याण गुणाकर होने से) शुद्ध अतएव परं निर्मल तथा सदा एक रूप रहने वाले परं ब्रह्म जिस (शास्त्रजन्यज्ञान के द्वारा अच्छी तरह से जाने जाते हैं, तथा जिस विवेकजन्य उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा अच्छी तरह से देखे जाते हैं अथवा जिस परभक्ति रूप ज्ञान के द्वारा प्राप्त होते हैं, वही वस्तुतः ज्ञान है, उसको

छोड़कर भगवद् विषय व्यतिरिक्त होने के कारण, सभी ज्ञान अज्ञान स्वरूप ही हैं, क्योंकि वह अविद्यारूप होने के कारण बन्धक ही है। (इस श्लोक का अस्तदोषम् पद परं ब्रह्म को विकारास्पद् प्रकृति से भिन्न सिद्ध करता है। शुद्धं शब्द बद्धजीवों से भिन्न सिद्ध करता है। परं निर्मलम् पद हेयादि रहित मुक्तों से भिन्न तथा एक रूपं पद अनेक रूप वाले नित्य जीवों से भिन्न सिद्ध करता है।)

टिप्पणी– क्लेशादयः– पद में आदि पद कर्म, विपाक एवं आशय का वाचक है। क्लेश आदि पद का विवेचन करते हुए महर्षि पतञ्जलि योगसूत्र में कहते हैं–'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिन वेशाः क्लेशाः।' (यो० द० २।३) अर्थात्– अविद्या, अस्मिता (अहंकार) राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं। कर्म दो तरह के होते हैं– पुण्यात्मक एवं पापात्मक। कर्मों के फल रूप विपाक तीन तरह से होते हैं– जन्म, आयु और भोग। आशय कर्मों के संस्कार को कहते हैं। इन चारों दोषों से रहित भगवान् हैं। इस अर्थ को बतलाते हुए पतञ्जलि महर्षि कहते हैं– "क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।" अर्थात् क्लेश आदि के गन्ध से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं।

सर्वदृक्–वेदों में परं ब्रह्म को सबों का नेत्र इसलिए बतलाया गया है कि जिस तरह नेत्र के द्वारा सभी वस्तुओं का साक्षात्कार किया जाता है उसी तरह परमात्मा के ही कारण सभी वस्तुओं का साक्षात्कार होता है। अतएव 'विश्वतश्चक्षुः' यह श्रुति परमात्मा

को जगत् का नेत्र बतलाती है। 'चक्षुर्देवानामुतमर्त्यानाम्" यह श्रुति बतलाती है कि परमात्मा देवताओं एवं मानवों के नेत्र स्वरूप हैं।

मूल- "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परं ब्रह्मणिशब्द्यते।
मैत्रेय भगवच्छब्दः, सर्वकारण कारणे॥
संभर्तेति तथा भर्ता, भकारोऽर्थद्वयान्वितः।
नेतागमयिता स्रष्टा, गकारार्थस्तथा मुने॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसःश्रियः।
ज्ञान वैराग्योश्चैव षष्णां भग इतीरणा॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतामन्यखिलात्मनि।
सच भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥

(वि० पु० ६।५।७२-७५)

अनुवाद- अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में कहा था कि ब्रह्म वाणी का विषय नहीं बनता है। इस अर्थ का खण्डन करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं- हे मैत्रेय ! नित्य शुद्ध उभय विभूति नायक, सभी कारणों के भी कारण स्वरूप परं ब्रह्म के ही अर्थ में भगवत् शब्द का प्रयोग होता है। भगवत् शब्द घटक भकार के दो अर्थ हैं- (१) संभर्ता-- (चूंकि भगवान् प्रकृति, पुरुष काल आदि उपकरणों को सृष्टि के उपयोगी बनाते हैं, अतएव वे सम्भर्ता कहलाते हैं।) और (२) भर्ता (स्वामी) और हे मुने ! भगवत् शब्द के गकार के तीन अर्थ हैं- (१) नेतृत्व,-'अधिभूर्ना-

यको नेता' इस कोश के अनुसार नेता शब्द रक्षक का वाचक है।) (२) गमयितृत्व– (जिस तरह 'यस्मिन्निदं सचन विचेति सर्वम्' इस श्रुति में परमात्मा में ही जगत् का लय और उसकी सृष्टि बतलायी गयी है, उसी तरह गमयितृत्व संहार का ही वाचक है। (३) स्रष्टृत्व– (परमात्मा जगत् की सृष्टि करता है यह अनेक कारणवाचक श्रुतियाँ बतलाती हैं।) सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान एवं वैराग्य इन छहों को भग कहते हैं। उन सम्पूर्ण-जगत्-शरीरक सभी भूतों की आत्मा परमात्मा में ही सभी भूतों का निवास है और विकार रहित वे परमात्मा सभी भूतों में रहते हैं, यह भगवत् शब्द के वकार का अर्थ है।

टिप्पणी– प्रस्तुत सन्दर्भ को भगवत् शब्द के अवयवार्थ के निरूपण हेतु अवतरित किया गया है। इसमें भगवत् शब्द के भकार, गकार एवं वकार का अर्थ निरूपित किया गया है। शुद्धेमहाविभूत्याख्ये– में शुद्ध पद उसी तरह से नित्य शुद्ध अर्थ का वाचक है जिस तरह 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' इस परिभाषा का सिद्ध पद नित्य परक माना जाता है। शब्दयते पद इस अर्थ की सूचना देता है कि भगवत् शब्द मुख्या, वृत्ति के द्वारा उभय विभूति नायक' नित्य शुद्ध एवं जगत् कारण भूत परं ब्रह्म को बतलाता है।

ऐश्वर्यस्य– इत्यादि श्लोक का यश पद गुणवत्ता की प्रसिद्धि को बतलाता है। श्रीः शब्द भोग्य संपत्ति का वाचक है। 'अवाक्यनादरः' इस श्रुति के अनुसार अवाप्त समस्तकाम होने के

कारण परं ब्रह्म का किसी के प्रति आदर नहीं है, अतएव ब्रह्म वैराग्य गुण सम्पन्न है।

मूल-"ज्ञान शक्तिबलैश्वर्यवीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः॥
(वि०पु० ६।५।७९)

अनुवाद- उपर्युक्त सन्दर्भ में भगवत् शब्द के अवयवार्थ को बतलाया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवत् शब्द का समुदितार्थ बतलाया जा रहा है।) सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य और सम्पूर्ण तेज ये सभी भगवत् शब्द के वाच्यार्थ हैं किन्तु त्याज्य (प्राकृतिक) गुणों को छोड़कर।

टिप्पणी- इस संदर्भ में भगवान् को सभी दिव्य गुणों का आश्रय बतलाकर उनमें प्राकृतिक सत्वादि त्याज्य गुणों का अभाव बतलाया गया है। इस वाक्य का अशेष पद भगवान् के ऐश्वर्य वीर्यादि छह गुणों के अतिरिक्त शील आदि गुणों की भी सूचना देता है। भगवत् शब्दके अक्षरार्थ को बतलाते हुए भकार गकार एवं वकार का तो अर्थ बतलाया गया है। किन्तु अन् प्रत्यय का अर्थ नहीं बतलाया गया है। अतएव उसका अर्थ बतलाते हुए कहा गया- विना हेयै गुंणादिभिः- अर्थात् भगवान् में त्याज्य गुण आदि नहीं हैं। यहां अन् प्रत्यय 'कश्यपः पश्यको भवति' न्याय से नकारार्थक है।

मूल--"एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ।।
तत्र पूज्य पदार्थोक्ति परिभाषा समन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ।।"
(वि०पु० ६।५।७६)

अनुवाद– हे मैत्रेय । उक्त प्रकार से अवयवार्थ के योग के के कारण यह महान् अर्थ सम्पन्न भगवान् शब्द परं ब्रह्म भगवान् वासुदेव का ही वाचक है, दूसरे का नहीं । अपने पूज्य अवयवार्थों एवं रूढि से युक्त इस भगवान् शब्द का वासुदेव में ही अनौपचारिक प्रयोग होता है। उनको छोड़कर अन्य अर्थ में इस शब्द का प्रयोग औपचारिक (गौण) होता है।

टिप्पणीं– तत्र पूज्य पदार्थोक्ति इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हुए विष्णुचित्तीय टीकाकार लिखते हैं कि पूज्य के अर्थ में भी भगवान् शब्द का प्रयोग लोक में देखा जाता है। निघण्टुकार लिखते हैं 'तत्र भगवान् इति शब्दो वृद्धैः प्रयुज्यते पूज्ये' अतएव भगवान् शब्द की परिभाषा (रूढि) पूज्यार्थ के द्योतन में देखी जाती है, फिर यह भगवान् विष्णु के ही अर्थ में उसी तरह से नियत है जिस तरह नारायण के अर्थ में । भगवान् विष्णु के सम्पूर्ण जगत् का कारण, सर्व गुण परिपूर्ण तथा परम पूज्य होने के कारण उनको ही यह शब्द मुख्या वृत्ति से बतलाता है। अन्य जीवों के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आपेक्षिक पूज्य होने के कारण औपचारिक होता है। किन्तु श्रुतप्रकाशिकाकार

"पूज्यपदार्थोक्ति परिभाषा समन्वितः" पद का विग्रह इस तरह मानते हैं– पूज्यानामवयवार्थानामुक्तिः, परिभाषा रूढिः ताभ्यां समन्वितः विशिष्टः।

मूल–समस्ताः शक्तयश्चैता नृप ! यत्र प्रतिष्ठिताः।

तद्विश्वरूप वैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्।

समस्त शक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर।

देवतिर्यङ् मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया।

जगतामुपकाराय न सा कर्म निमित्तजा

चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यापिन्यव्याहतात्मिका॥

(वि०पु० ६।७।७०।७१।७२)

अनुवाद– हे राजन् ! ये सभी शक्तियाँ जिसमें प्रतिष्ठित हैं, वह सम्पूर्ण उपर्युक्त रूपों से विलक्षण भगवान् का अपरिच्छिन्न शरीर है। हे जनेश्वर ! परमात्मा अपनी लीला के लिए ही सम्पूर्ण शक्तियों के आश्रयभूत देव, तिर्यक (पशु-पक्षी) मनुष्य आदि शरीरों तथा अवतारों को चेष्टावान् बनाता है। किसी अन्य प्रयोजन से नहीं। उस स्वतंत्र अप्रमेय ईश्वर की उपर्युक्त चेष्टायें व्यापक, एवं अव्याहत होती हैं। उसकी वे चेष्टायें कर्म जन्य नहीं अपितु संसार का उपकार करने के लिए ही होती हैं।

टिप्पणी–समस्ता शक्तयः पद के द्वारा परमात्मा के अवतारों में भी बद्ध, मुक्त एवं कर्म रूप अविद्या इन तीन शक्तियों के आश्रय होने से शुभाश्रयत्व की सूचना दी गई है। रूपमन्यद्धरेर्महत्–

यह पद बतलाता है कि परमात्मा का शरीर संसार में पाये जाने वाले शरीरों से द्रव्यान्तर रूप होता है। क्योंकि– 'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्' यह श्रुति बतलाती है कि परमात्मा का दिव्य मंगल विग्रह सूर्य के समान देदीप्यमान है। 'अमृतो हिरण्मयः विद्युतः पुरुषादधि' यह श्रुति बतलाती है कि उस विद्युताभिमानी पुरुष के उपर स्वर्ण के सदृश देदीप्यमान नित्य परमात्मा हैं। "महारजतं वासः पुण्डरीकमेवमेवाक्षिणी रुक्मवर्ण कर्तारमीशं रुक्माभम्।" यह श्रुति परमात्मा का वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहती है कि परमात्मा के वस्त्र महारजत के समान, विकसित लालकमल के समान नेत्र, स्वर्ण के सदृश देदिप्यमान कान्ति, सम्पूर्ण जगत् के कर्ता एवं नियामक परमात्मा की आभा स्वर्ण के सदृश है।' वेद तो परमात्मा को सर्वातिशायी वर्णन करते ही हैं, किन्तु उनके उपमान जो हैं वे वस्तुतः वैसे उत्कृष्ट नहीं है जैसा कि परमात्मा का वर्णन होना चाहिए। वेद वाणियों की जहाँ तक पहुँच है वहाँ तक तो वे कहती हैं, किन्तु अन्त में वे भी नेतिनेति (इतना हीं नहीं इतना हीं नहीं) कहकर अनन्त परमात्मा का ऐतावत्वेन वर्णन के निषेध मे विराम ले लेती हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन पूर्ण रूप से सूत्रकारने 'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इस सूत्र में किया है। देवतिर्यङ्मनुष्यादि चेष्टावंति– इस पद में यह बतलाया गया है कि– मन्वन्तरेष्व-शेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति' इस वाक्य के अनुसार वह परमात्मा सभी मन्वन्तरों में विभिन्न देवरूपों से रहता है। प्रत्येक कल्प में

भगवान् के चौदह देवावतार होते है। मत्स्य आदि भगवान् के तिर्यक्अवतार हैं। राम आदि भगवान् के मनुष्यावतार हैं।

अकेला ही परमात्मा अनेक रूपों में परिणत हो जाता है। उसकी जन्मादि की चेष्टायें मानवादि सभी योनियों तथा वृन्दावन गोकुल, अयोध्या आदि सभी स्थानों में व्यापक हैं। उसकी चेष्टाओं को रावण, कुम्भकर्ण, कंस, हिरण्यक्ष आदि भी प्रतिहत नहीं कर सके। ये सभी वाक्य परमात्मा के दिव्य विग्रह का प्रतिपादन करते हैं।

मूल- 'एवम्प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम्।
समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम् ॥"
(वि० पु० १।२२।५३)

अनुवाद- वे मुक्तात्मा उपर्युक्त प्रकार के मलप्रत्यनीक, नित्य, स्वरूपतः व्यापक, स्वरूपतः एवं गुणतः विकार रहित, सम्पूर्ण त्याज्य दोषों से रहित विष्णु नामक परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी- अमल पद से भगवान् को सोपाधिक हेय का विरोधी बतलाया गया है। अक्षय पद से भगवान् को मुक्तों एवं नित्य जीवों से भिन्न बतलाया गया है। क्योंकि मुक्तावस्था से पहले तो जीव में विकार होता ही है। इसी तरह नित्य जीवों का विकार राहित्य परमात्मा की इच्छा के अधीन है। (यह श्लोक भगवान् के अनेक दिव्य गुणों का प्रतिपादन करता है।

मूल–"परः पराणां परमः परमात्मात्म संस्थितः।
रूप वर्णादिनिर्देश विशेषण विवर्जितः।
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्।
सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥"
(वि० पु० १।२।१०.११.१२)

अनुवाद– (भगवान् विष्णु अपने स्वरूप, रूप गुण एवं ऐश्वर्य आदि के द्वारा) उत्कृष्टों से भी उत्कृष्ट होने के कारण सर्वोत्कृष्ट हैं। उनसे बढ़कर कोई महान् नहीं है। वे ही परमात्मा हैं। वे अपना आधार स्वयं हैं। वे संस्थन आदि रूपों, देव आदि जाति रूप वर्णों तथा क्रियाओं एवं द्रव्यों आदि के निर्देश रूप विशेषणों से रहित हैं। अपक्षय, विनाश, परिणाम, वृद्धि, जन्म आदि षड्विकारों से रहित उन्हें केवल सदा सत्ता रूप ही कहा जा सकता है। चूँकि सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा का निवास और सम्पूर्ण जगत् का (आश्रय होने के कारण) परमात्मा में निवास है अतएव विद्वान् लोग उनको वासुदेव शब्द से अभिहित करते हैं। वे परम ब्रह्म हैं, वे नित्य, अजन्मा क्षय-रहित और विकार रहित होने के कारण सर्वदा एक रूप तथा उनमें त्याज्य गुणों का अभाव होने के कारण वे निर्मल हैं।

टिप्पणी– सर्वत्रासौ– इत्यादि श्लोक में वासुदेव शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। चूंकि · औणादिक प्रत्यय अनेकार्थक होते हैं अतएव कर्ता एवं अधिकरण में प्रत्यार्थका निर्देश इस श्लोक में किया गया है। इस तरह वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से समझनी चाहिये। "वसतीति वासुः वासयतीति वासुः। वासुश्चाऽसौ देवः।" अर्थात् जो देवता सबों के अन्दर निवास करे उसको वासुदेव कहते हैं। 'जगत् सर्व शरीरं ते' 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः' 'य आत्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ यह बतलाती हैं कि परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है तथा सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है। 'भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ति' यह श्रुति बतलाती है कि परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का धारण पोषण करता है तथा वह जगत् का स्वामी है। इसके अनुसार तथा 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इस श्रुति के अनुसार परमात्मा के भीतर सम्पूर्ण जगत् निवास करता है। इन दोनों प्रकार के अर्थों से युक्त होने के कारण ही भगवान् को वासुदेव कहते हैं।

मूल–'तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षरमव्ययम्।
एक स्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्।
तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥"

(वि०पु० १।२।१३।१४)

अनुवाद– (अद्वैती विद्वान् यहां पर यह कह सकते हैं कि वेदान्तों में ब्रह्म को निर्विकार बतलाया गया है, अतएव उसे वासुदेव कैसे कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार का कहना है कि श्री विष्णुपुराण के निम्न प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि वेदान्तों में जिसे ब्रह्म कहा गया है वही वासुदेव हैं– ।) वे भगवान् वासुदेव ही नित्य, अजन्मा, विकार रहित एवं अव्यय होने के कारण निर्मल हैं। वे ही प्रकट एवं अप्रकट स्वरूपों से युक्त दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् स्वरूप हैं। वे ही पुरुष रूप तथा काल रूप से विद्यमान हैं।

टिप्पणी–इस सन्दर्भ में प्रथम श्लोक में भगवान् को स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण प्रतिपादित करते हुए 'एकस्वरूपम्' पद के द्वारा उन्हें षड्विकार रहित बतलाया गया है। तथा उन्हें अखिलहेय प्रत्यनीक भी बतलाया गया है। त्रिविध परिच्छेद राहित्य का प्रतिपादन करती हुई 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति देवता विशेष को ही अनन्त रूप से चयन की। अनन्त शब्द नारायण आदि पदों का पर्यायवाची है, तथा योगरूढ होने के कारण त्रिविध परिच्छेद रहित भगवान् को ही बतलाता है। यह अनन्त पद पुल्लिङ्ग एवं द्वितीयान्त है क्योंकि उसका 'योवेद' इत्यादि श्रुति के वेद शब्द के साथ अन्वय होता है। यदि उसे प्रथमान्त माना जाय तो फिर 'तद् यो वेद' इस तरह से तत् पद का अध्याहार करना होगा तथा वाक्य भेद भी होगा।

तदेव सर्वमेव-- इत्यादि वाक्य के द्वारा परमात्मा में वस्तु

परिच्छेद का अभाव बतलाया गया है। इस वाक्य में यह बत-लाया गया है कि व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल इन सबों का समुदाय परमात्मा का शरीर होने के कारण तत्स्वरूप ही है। सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यार्हता ही वस्तु परिच्छेद का अभाव है। चूँकि परमात्मा सर्व व्याप्त है अतएव ही उसमें समाभ्यधिकराहित्य की सिद्धि होती है।

मूल--प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णु नामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥
(वि० पु० ६।४।३९।४०)

अनुवाद-(उपर्युक्त अनुच्छेदों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि विष्णुपुराण के उपक्रम में ही परमात्मा के त्रिविध परिच्छेद राहित्य का प्रतिपादन किया गया है। अब प्रस्तुत अनुच्छेद में उक्त पुराण के अन्तिम संदर्भ को इसलिए उद्धृत किया जा रहा है कि उक्त पुराण का उपसंहार परमात्मा के सर्वव्यापकत्व के प्रतिपादन के साथ होता है। अतएव श्री विष्णु पुराण परंब्रह्म के सविशेषत्व का ही प्रतिपादन करता है।) व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप वाली जिस प्रकृति का मैंने प्रतिपादन किया है तथा पुरुष (जीव) ये दोनों (प्रलयकाल में अपने कारण भूत) परमात्मा में लीन हो जाते हैं। और परमात्मा सबों का आधार तथा सबों का नियामक

है। विष्णु नामक वह परमात्मा वेद तथा वेदान्तों (उपनिषद्) में गाया जाता है।

टिप्पणी– चूंकि कहीं कहीं पर परमात्मा शब्द का प्रयोग जीव के भी अर्थ में देखा जाता है। अतएव परमात्मा का जगत् कारणत्व रूप साक्षात् लक्षण 'लीयेते परमात्मनि' कहकर बतलाया गया है। क्योंकि जिस तरह 'अभेद व्यापिनो वायोस्तथाऽसौ परमात्मनः' इस वाक्य में परमात्मा शब्द जीव का वाचक है। उसी तरह यहां भी प्रकृति और पुरुष का कथन होने के कारण परमात्मा शब्द से जीव का ग्रहण हो सकता था, अतएव उसे सबों का आधार, सबों का कारण तथा सबों का नियामक बतलाया गया है। ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, विष्णु ये सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, तथा वेदों तथा वेदान्तों के प्रतिपाद्य भगवान् विष्णु ही हैं यह इस सन्दर्भ का दूसरा श्लोक बतलाता है।

इस तरह स्पष्ट है कि श्री विष्णुपुराण का उपक्रम और उपसंहार अखिलहेय प्रत्यनीक सकल कल्याण गुणाकर भगवान् विष्णु जो नारायण और परं ब्रह्म शब्दाभिधेय हैं, के प्रतिपादन से ही होता है।

मूल--द्वेरूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च।
क्षराक्षर स्वरूपे ते सर्वभूतेषु च स्थिते॥
अक्षरं तत्परब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्।
एक देशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा॥
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥
(वि० पु० १:२२।५५,५६,५७)

अनुवाद–(प्रस्तुत संदर्भ में जीव और ब्रह्म के शरीरात्मभाव संबन्ध का प्रतिपादन किया जा रहा है।) मूर्त (बद्धजीव) एवं अमूर्त (मुक्तजीव) ये दो ब्रह्म के शरीर हैं। वे दोनों (क्रमशः) (ज्ञान के संकोच रूप विकार युक्त होने के कारण) क्षर स्वरूप (तथा ज्ञान संकोच रूप विकार से रहित होने के कारण) अक्षर स्वरूप हैं, तथा सभी भूतों में व्याप्त होने में समर्थ हैं। (बद्ध जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण) वह जो परंब्रह्म (मुक्त जीव) है वह अक्षर स्वरूप है, और यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् क्षर स्वरूप है। जिस तरह किसी एक स्थान पर विद्यमान अग्नि का विस्तार करने वाली उसकी अपृथक् सिद्ध विशेषण भूत ज्योति होती है उसी तरह यह सम्पूर्ण जगत् उस परं ब्रह्म की (अपृथक् सिद्ध विशेषण भूत) शक्ति है।

टिप्पणी– सर्वभूतेषु च स्थिते– इस वाक्यांश के द्वारा यह बतलाया गया है कि मुक्त और बद्ध दोनों प्रकार के जीव अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतएव सभी भूत में व्याप्त होने में समर्थ हैं। 'स्थिते' पद में 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग अर्ह के अर्थ में समझना चाहिए। बद्धजीव तो स्वरूपतः सभी भूतों में व्याप्त होने में समर्थ हैं तथा मुक्त जीव अपने विभु ज्ञान के द्वारा सभी भूतों में व्याप्त होने में समर्थ हैं। अखिलं जगत्– में जगत् पद से जड चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्, मुक्तजीव तथा त्रिपाद् विभूति को भी परमात्मा की शक्ति बतलाया गया है।

मूल--"विष्णु शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ॥
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा ।
संसारतापानखिलनवाप्नोत्यतिसन्ततान् ॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।
सर्वभूतेषु भूपाल ! तारतम्येन वर्तते ॥"
(वि० पु० ६।७।६१,६२,६३)

अनुवाद– भगवान् विष्णु की शक्ति पराशक्ति बतलायी गयी है, और क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) अपरा शक्ति है। इन दोनों से भिन्न जो तीसरी कर्मनामकी अविद्या शक्ति मानी जाती है। हे राजन् जिस अविद्या (अज्ञान) नामक शक्ति के द्वारा सर्वव्यापिनी क्षेत्रज्ञ शक्ति व्याप्त होकर अत्यन्त विस्तृत सभी सांसारिक तापों को प्राप्त करती है, हे पृथिवीपते! उसी (अविद्याशक्ति) के द्वारा जीवों के स्वरूप तिरोहित हो जने के कारण सभी जीवों में ज्ञान का न्यूनाधिक्य रूप तारतम्य बना रहता है।

टिप्पणी– 'सर्वगा' विशेषण देकर यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्गों तक सभी शरीरों में जीव व्याप्त है। अतएव ब्रह्मा जिस तरह जीव कोटि में आते हैं उसी तरह एक छोटी सी चींटी भी जीव कोटि में आती है जीवों में जो ज्ञान गुणादि का तारतम्य पाया जाता है वह कर्म रूप अविद्या शक्ति के कारण

जीव अपने पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मों के अनुसार ही शरीर, ज्ञान सुख आदि को प्राप्त करते हैं। अतएव सभी जीव कर्म के द्वारा व्याप्त हैं।

मूल--प्रधानञ्च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया ।
विष्णुशक्त्या महाबुद्धे ! वृत्तौ संश्रयधर्मिणौ ॥
तयोः सैव पृथग्भावकारणं संश्रयस्य च ।
यथा शक्तं जले वातो बिभर्ति कणिकाशतम् ।
शक्ति साऽपि तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मनः ॥
(वि० पु० २।७।२९।३०।३१)

अनुवाद– हे महाबुद्धे ! (मैत्रेय !) सभी भूतों में व्याप्त रहने वाली विष्णु शक्ति के द्वारा, प्रकृति और पुरुष दोनों (भगवान् के) अपृथक् सिद्ध धर्म होने के कारण, व्याप्त हैं। उन दोनों (प्रकृति और जीव) के पृथक्भाव (संहार अथवा मोक्ष) तथा संश्रय (सृष्टि अथवा संसार संबन्ध) के कारण वे (भगवान्) ही हैं। जिस तरह जल में विद्यमान उसके सैकड़ों कणों को वायु संयुक्त अथवा वियुक्त कर देती है। उसी तरह से वह प्रसिद्ध भगवान् विष्णु की शक्ति प्रकृति और पुरुष को भगवान् विष्णु से संयुक्त अथवा वियुक्त कर देती है।

मूल--"तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभाव जन्मनाशविकल्पवत् ॥

इत्यादिना परं ब्रह्म स्वभावत एव निरस्तनिखिल दोषगन्धं समस्तकल्याणगुणात्मकं जगदुत्पत्तिस्थिति-संहारान्तः प्रवेशनियमनादिलीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः सर्वावस्थावस्थितस्य परमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणः शरीरतया रूपत्वम् -शरीररूपतन्वंशशक्ति विभूत्यादिशब्दैस्तच्छब्दसमानाधिकरण्येन चाभिधाय तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुनः स्वरूपेणावस्थितिमचिन्मिश्र-तया क्षेत्रज्ञरूपेण स्थितिं चोक्त्वा, क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपाविद्यावेष्टितत्वेन स्वाभाविकज्ञान रूपत्वानुसंधानश्चिद्रूपार्थाकारतयाऽनुसन्धानञ्च प्रति-पादितमिति परंब्रह्म सविशेषम्, तद्विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते ।

अनुवाद– जगत् का पारमार्थ्य प्रतिपादन करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं– ऐ मनन करने वालों में श्रेष्ठ मैत्रेय उपर्युक्त प्रकारक यह सम्पूर्ण जगत् आविर्भाव (प्रकट स्वरूप) और तिरोभाव (छिप जाना) तथा जन्म और नाश रूपी विकल्पों से युक्त होने के कारण अक्षय एवं नित्य है ।

इन सभी वाक्यों द्वारा (स्मृति) ब्रह्म के सभी दोषों के गन्ध से भी राहित्य, सारे कल्याण गुणों से युक्तता, तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार और उसके भीतर अन्तर्यामी रूप से प्रवेश

करके नियमन रूप लीला का प्रतिपादन करके, सभी अवस्थाओं में विद्यमान सभी जड़चेतन वस्तुओं के पारमार्थिक (सत्य) ही होने के कारण उनको परं ब्रह्म का शरीर बतलाकर (जगत् को ब्रह्म के) शरीर, रूप, तनु, अंश, शक्ति, विभूति आदि शब्दों तथा उसके सामानाधिकरण्य रूप से अभिहित करके परंब्रह्म का विभूति रूप चेतन वस्तु (जीवों) की (मुक्तावस्था मे) स्वरूप स्थिति तथा (बद्धावस्था में) जड़ मिश्र होने के कारण क्षेत्रज्ञ रूप से स्थिति को बतलाकर क्षेत्रज्ञावस्था में पुण्य पाप रूप कर्मों से व्याप्त होनेके कारण आत्माके स्वाभाविक ज्ञानरूपत्व का अनुसंधान नहीं होता है तथा, देह, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि जड प्रकृति रूप से अनुसंधान होने लगता है, इस बात का प्रतिपादन किया गया है। इस तरह से परंब्रह्म विशेषण विशिष्ट हैं और उनकी विभूतिभूत जगत् भी पारमार्थिक ही है, यह (पुराणों एवं स्मृतियों के अध्ययन द्वारा) ज्ञात होता है।

अद्वैती विद्वानों द्वारा उद्धृत वाक्यों का वास्तविक अर्थ

मूल--'प्रत्यस्तमितभेदम्' इत्यत्र देवमनुष्यादि प्रकृति परिणाम विशेषसंसृष्टस्यात्मनः स्वरूपं तद्‌गतभेदरहितत्वेन तद्-भेदवाचि देवादिशब्दागोचरं ज्ञानसत्तैकलक्षणं स्वसंवेद्यं योगयुङ्मनसो न गोचर इत्युच्यत इति । अनेन न प्रपञ्चापलापः । कथमिदमवगम्यत इति चेत्? तदुच्यते ।अस्मिन् प्रकरणे संसारैक भेषजतया योगमभिधाय योगावयवान्

प्रत्याहारपर्यन्तांश्चोक्त्वा धारणासिद्धयर्थं शुभाश्रयं वक्तुं परस्य ब्रह्मणो विष्णोः शक्तिशब्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्ता-मूर्तं विभागेन प्रतिपाद्य तृतीयशक्तिरूपकर्माख्याविद्यावे-ष्टितम् अचिद्विशिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्ताख्य विभागं भावनात्रया-न्वयादशुभमित्युक्त्वा द्वितीयस्य कर्माख्याविद्या विरहिणो ऽचिद्वियुक्तस्य ज्ञानैकाकारस्यामूर्ताख्य विभागस्य निष्पन्न योगिध्येयतया योगयुङ् मनसोऽनालम्बनतया स्वतः शुद्धि-विरहाच्च शुभाश्रयत्वं प्रतिषिध्य परशक्तिरूपमिदममू-र्तमपरशक्तिरूपं क्षेत्रज्ञाख्यमूर्तञ्च परशक्तिरूपस्यात्मनः क्षेत्रज्ञतापत्तिहेतुभूत् तृतीयशक्त्याख्यकर्मरूपाविद्या चेत्येतच्छक्तित्रयाश्रयो भगवदसाधारणम् 'आदित्यवर्ण-मित्यादि वेदान्तसिद्धं मूर्तरूपं शुभाश्रय इत्युक्तम् ।

अत्र परिशुद्धात्मस्वरूपस्य शुभाश्रयतानर्हतां वक्तुं 'प्रत्यस्तमितभेदं यत्' इत्युच्यते । तथाहि—

'नतद्योगयुजा शक्यं नृपचिन्तयितुं यतः ॥(६।७।५५)
द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं परं पदम् ॥६।७।६९)
समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः ।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥(वि०पु० ६।७।७०)

इति च वदति ।

अनुवाद– (इससे पहले श्रीभाष्यकार ने श्री विष्णुपुराण के तेरह स्थलों तथा गीता वाक्यों को उद्धृत करके सिद्ध किया है कि स्मृतियों एवं पुराणों के वाक्य परंब्रह्म को सविशेष रूप से ही प्रतिपादित करते हैं। प्रस्तुत अनुच्छेद में आप इस बात को बतलाते हैं कि महापूर्व पक्ष में अद्वैती विद्वानों ने जो विष्णुपुराण के वाक्यों को निर्विशेष वस्तु की सिद्धि हेतु उद्धृत किया है उससे उनकी असमीक्ष्यकारिता का ही परिचय मिलता है क्योंकि प्रकरण के पर्यालोचन से पता चलता है कि उन वाक्यों द्वारा भी सविशेष ही ब्रह्म की सिद्धि होती है। अद्वैती विद्वानों ने अपने अर्थ की सिद्धि हेतु जिन वाक्यों का उपादान किया है उनमें सर्व प्रथम वाक्य है। 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् इत्यादि' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए आप कहते हैं कि–) 'प्रत्यस्तमित भेदं यत्' इत्यादि स्थल में (सर्व प्रथम) देव मानव आदि प्रकृति के कार्य भूत (शरीर) विशेष से संयुक्त भी आत्मा का स्वरूप परस्पर में वर्ण आदि के भेद से रहित होने के कारण, वे शरीर के भेदों के वाचक देव आदि शब्दों के विषय नहीं बनते हैं, सभी आत्माओं में होने वाला परस्पर में भेद केवल अपने से ही जाना जा सकता है। अतएव आत्मा का परस्पर में होने वाला भेद प्रक्रान्त योग वाले मन का भी विषय नहीं बनता है।

इस तरह सिद्ध होता है कि 'प्रत्यस्तमित भेदं' इत्यादि वाक्य के द्वारा प्रपञ्च का अपलाप नहीं किया गया है। यदि आप कहें कि ऐसा कैसे कह सकते हैं? तो मैं बतलाता हूँ। इस प्रकरण

में संसार के भेषजरूप से एकमात्र योग को बतलाकर प्रत्याहार पर्यन्त योग के अङ्गों को धारणा की सिद्धि हेतु शुभाश्रय को बतलाने के लिये पुनः परंब्रह्म विष्णु की शक्ति शब्द से कहे जाने वाले मूर्त और अमूर्त इन दो रूपों केविभाग का प्रतिपादन करके तीसरी शक्ति रूप कर्म नामक अविद्या से व्याप्त जड़ शरीर से युक्त क्षेत्रज्ञ को, जो मूर्त नामक विभाग हैं, उसको (ब्रह्म भावना, कर्म भावना और उभय भावना) इन तीनों भावनाओं से युक्त होने के कारण अशुभ बतलाया गया है। दूसरी जो परमात्मा की अमूर्तनामक शक्ति हैं वह कर्म नामक अविद्या (अज्ञान) शक्ति से रहित, तथा जड़ प्रकृति के संबन्ध से विमुक्त ज्ञानस्वरूप होने के कारण निष्पन्न योगी के द्वारा ही ध्येय है, अतएव उसके योग युक्त मन का आधार न होने तथा स्वतः शुद्धि के अभाव के कारण उसके शुभाश्रयत्व का प्रतिषेध करके परशक्ति रूप इस अमूर्त (मुक्त) अपर शक्ति रूप क्षेत्रज्ञ नामक मूर्त (बद्धजीव) और परशक्ति के क्षेत्रज्ञ बनने के कारण भूत तृतीय शक्ति अविद्या नामक कर्म इन तीनों शक्तियों के आश्रय भूत भगवान् के 'आदित्यवर्णम्' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे सिद्ध असाधारण धर्म, तथा उनका मूर्त रूप ही शुभाश्रय है, यह कहा गया है। इस प्रसङ्ग में सर्वथा शुद्ध स्वरूप आत्मा शुभाश्रय नहीं हो सकता है, इसी अर्थ को बतलाने के लिए कहते हैं–

"प्रत्यस्तमितभेदं यत्" इत्यादि।

इसका आशय इस प्रकार से है–

हे राजन्! चूंकि प्रक्रान्त योग वाले योगी के द्वारा वह (परशक्ति रूप अमूर्त रूप) चिन्तन करने के योग्य नहीं है। तथा भगवान् विष्णु का दूसरा रूप योगियों के ही द्वारा ध्यान करने के योग्य है। हे राजन् ये सभी शक्तियाँ जिसके आधार पर टिकी हैं वह पूर्वोक्त सम्पूर्ण शरीरों से विलक्षण भगवान् का स्थूल रूप महान् गुणों एवं आकार से युक्त है।

टिप्पणी– देवमनुष्यादि प्रकृतिपरिणाम इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि जो जीवों को देव, मानव, आदि का शरीर मिला करता है वह उनका वास्तविक स्वरूप न होकर औपाधिक है। शरीर चाहे जो हो वह प्रकृति का परिणाम (कार्य) विशेष है। "दुखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः" अर्थात् वे दुख, अज्ञान मल आदि प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। तथा–

"पुमान्न देवो न नरो न पशुर्नच पादपः।
शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः॥"

अर्थात्– हे राजन्! जीव न तो देव है, न तो मानव, न तो पशु और न तो वृक्ष, ये शरीर और आकार के भेद कर्म जन्य योनियों के कारण हैं।" इत्यादि प्रमाणों के अनुसार ज्ञात होता है कि शरीर औपाधिक एवं प्रकृति के परिणाम विशेष हैं।

मूल--तथा चतुर्मुख सनकादीनां जगदन्तर्वर्तिनामविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयानर्हतामुक्त्वा बद्धानामेव पश्चाद् योगेनोद्भूतबोधानां स्वस्वरूपमापन्नानां च स्वतः शुद्धिविरहात्

भगवता शौनकेन शुभाश्रयता निषिद्धा—

'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः ।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः ॥

(श्री विष्णु धर्म १०४।२३)

'यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः ।
पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्यानेनैवोपकारकाः ।
नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः ।
तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत् ॥"

(वि० ध० १०४।२४।२६)

इत्यादिना परस्य ब्रह्मणो विष्णोः स्वरूपं स्वासाधारणमेव शुभाश्रय इत्युक्तम् । अतोऽत्र न भेदापलापः प्रतीयते ।

अनुवाद- और संसार के ही भीतर रहने वाले ब्रह्मा सनक आदि के अविद्या से व्याप्त होने के कारण उन्हें शुभाश्रय के अयोग्य कहकर, बद्धों के ही पीछे चलकर योग के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने के कारण (आविर्भूतगुणाष्टक हो जाने से) अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने वालों की नैसर्गिक शुद्धि न होने से भगवान् शौनक ने (श्री विष्णु धर्म में) उनकी (ब्रह्मा सनक आदि की) शुभाश्रयता का निषेध किया है।

'ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी संसार के भीतर ही व्यवस्थित हैं। (ये सभी) जीव कर्म जन्य संसार के अधीन हैं। अतएव वे अज्ञान व्याप्त सभी संसार के ही विषय हैं। और जिन्हें (बद्धावस्था के) पश्चात् ज्ञान उत्पन्न हो गया है वे भी (मुक्त जीव) ध्यान के उपकारक नहीं हैं क्योंकि उनका भी ज्ञान स्वाभाविक न होकर उन्हें दुसरे पर ब्रह्म की कृपासे ही प्राप्त है। अतएव वह प्रसिद्ध ब्रह्म स्वभाव से ही ज्ञानवान एवं निर्दोष है।

इन सभी वाक्यों से परं ब्रह्म विष्णु के ही असाधारण स्वरूप (स्थूल सगुणरूप) को शुभाश्रय कहा गया है। अतएव यहाँ भेद का अपलाप नहीं प्रतीत होता है।

मूल--"ज्ञानस्वरूपमि'त्यत्रापि ज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्वरूपस्याऽऽत्मनो देवमनुष्याद्याकारेणावभासो भ्रान्तिरित्येतावन्मात्रवचनात् नहि शुक्तिकाया रजततयावभासो भ्रान्तिरित्युक्ते जगति कृत्स्नंरजतजातं मिथ्या भवति। जगद् ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतेः, ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपस्यार्थाकारता भ्रान्तिरित्युक्ते सत्यर्थजातस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वमुक्तं स्यादितिचेत्, तदसत्, अस्मिन् शास्त्रे परस्य ब्रह्मणो विष्णोर्निरस्ताज्ञानादि निखिलदोषगन्धस्य समस्तकल्याण गुणात्मकस्य महाविभूतेः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रान्तिदर्शना

संभवात् सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतिपादनञ्च बाधासह-मविरुद्धं चेत्यनन्तरमेवोपपादयिष्यते अतोऽयमपि श्लोको नार्थस्वरूपस्य बाधकः ।

अनुवाद– (उपर्युक्त अनुच्छेद मे यह बतलाया गया है कि 'प्रत्यस्तमित भेदं यत्' इत्यादि श्लोक में भी यही बतलाया जा रहा है कि 'ज्ञान स्वरूपम्' इत्यादि प्रसङ्ग में भी भेद का अपलाप नहीं किया गया है।) 'ज्ञानस्वरूपम्' इत्यादि स्थल में भी ज्ञान से भिन्न सम्पूर्ण वस्तुओं को मिथ्या नहीं प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि प्रस्तुत स्थल में तो केवल यही कहा गया है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसको देवता मनुष्य आदि रूप से प्रतीति होना भ्रम है। शुक्ति का रजत (चांदी) के रूप से प्रतीत होना भ्रम है, यह कहने मात्र से जगत् के सारे रजत तो मिथ्या नहीं हो सकते हैं। (यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि 'ज्योतींषि विष्णुः' इत्यादि श्लोक में सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म के सामानाधिकरण्य रूप से उपदेश किया गया है, चूंकि जगत् और ब्रह्म के सामानाधिकरण्य के कारण दोनों (जगत् और ब्रह्म) की एकता की प्राप्ति होती है। अतएव ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की विषय रूप से प्रतीति भ्रम है, ऐसा कहने पर सम्पूर्ण विषयों का मिथ्यात्व कथित होता है। (कहने का आशय यह है कि शुक्ति और रजत के स्थल में सम्पूर्ण रजत की तो शुक्ति के साथ सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती नहीं, अपितु उस प्रतीयमान रजतांश को छोड़कर सम्पूर्ण रजत की तो वैयधिकरण्येन ही प्रतीति होती है। [illegible]

सम्पूर्ण रजत को मिथ्या नहीं मान कर सामानाधिकरण्य रजत को ही मिथ्या माना जाता है। किन्तु यहाँ तो ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म के सामानाधिकरण्य रूप से उपदेश होने के कारण, ज्ञानाकार ब्रह्म का अर्थाकार जगत् के साथ विरोध होने पर सम्पूर्ण जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं– 'तदसत्) अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि इस (श्री विष्णुपुराण नामक) शास्त्र में बतलाया गया है कि परंब्रह्म विष्णु को किसी भी दोष की गन्ध तक नहीं लगी है, तथा वे सम्पूर्ण कल्याण गुणाकर हैं तथा जगत् रूपी महाविभूति सम्पन्न हैं, अतएव उनको भ्रान्ति दर्शन सम्भव नहीं है। सामानाधिकरण्य के द्वारा अभेद का प्रतिपादन बाधक प्रमाण रहित तथा अनुकूल है, यह आगे चलकर इसी अधिकरण में प्रतिपादित किया जायेगा, अतएव यह भी श्लोक विषयों के स्वरूप का बाधक नहीं है।

टिप्पणी– अद्वैती विद्वान् ब्रह्म में अविद्या के सम्बन्ध तथा जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। इसका खण्डन करते हुए श्रीभाष्यकार का कहना है कि श्री विष्णुपुराण के प्रस्तुत प्रसङ्ग के पर्यालोचन से अद्वैती विद्वानों का यह कथन गलत ही प्रतीत होता है। (समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्" यह वाक्य परं ब्रह्म को अखिल हेय प्रत्यनीक बतलाता है, 'तानि सर्वाणि तद्वपुः" यह वाक्य बतलाता है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् का

शरीर है। 'विभूतयो हरेरेता' यह वाक्य बतलाता है कि परंब्रह्म परमात्मा की लीला विभूति एवं त्रिपाद् विभूति के साथ-साथ उसकी सारी वस्तुयें विभूति हैं। परं ब्रह्म श्रीविष्णु ही हैं, इस अर्थ को बतलाने के लिए परस्य ब्रह्मणो विष्णोः कहा गया है। उस परं ब्रह्म को अविद्या का संबन्ध हो नहीं सकता इस अर्थ को श्रीभाष्यकार 'निरस्ताज्ञानादिनिखिलदोषगन्धस्य' तथा 'समस्त कल्याणगुणात्मकस्य' इन दो पदों के द्वारा सूचित किये हैं।

'महाविभूतेः' इस विशेषण से जगत् को भगवान् की विभूति बतलाकर उसके मिथ्यात्व का निषेध किया गया है। जगत् भगवान् की विभूति है, इस बात की सिद्धि केवल शास्त्र से ही होती है। इस अर्थ की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। अतएव जगत् के भगवद् विभूतित्व का निषेधार्थ अनुवाद नहीं माना जा सकता है।

'सामानाधिकरण्येन' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि सामाना-धिकरण्य वाक्य उसी वाक्य को माना जाता है, जिस वाक्यमें अनेक प्रवृत्ति निमित्त वाले पद किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतएव किसी वस्तु के दो आकार के अभाव में समानाधि-करण्य वाक्य की सिद्धि होती ही नहीं है। फलतः दो आकार वाली वस्तु की अभिन्नता का बाध हो ही नहीं सकता है। दो आकार के रहने पर भी वस्तु की एकता सहारक होने के कारण अनुकूल ही है।

मूल–तथाहि— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म' (तै०उ० ३।१) 'इति जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मे त्यवसिते सति—"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥"

(म० भा० आ० प० १।२७३)

इति शास्त्रेणार्थस्य इतिहासपुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्यमिति विज्ञायते। उपबृंहणं नाम— विदितसकलवेद तदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्त्वार्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम् ॥ सकलशाखागतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणाद् दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्यमेव ॥

अनुवाद– (उपर्युक्त अनुच्छेद में बतलाया गया है कि ब्रह्म का अज्ञान से संबन्ध नहीं होता है। प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि वेदों की सम्पूर्ण शाखाओं का अध्ययन करके उनके यथार्थ अर्थ को जान पाना मानव जीवन के लिए असंभव है। अतएव उन वैदिक तत्त्वों के जानकर हमारे ऋषियों महर्षियों ने वेदों की व्याख्या भूत जो इतिहासों और पुराणों की

चाहिये।) वह इस तरह से कि– 'जिनसे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, और जिनके द्वारा उत्पन्न होकर जीते हैं। (प्रलयावस्था में) जिनमें लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। उसे ही जानो, वही ब्रह्म है।' इस तैत्तिरीय श्रुति से जगत् के जन्म आदि के कारण रूप से ब्रह्म का निश्चय हो जाने पर 'इतिहास एवं पुराणों के द्वारा वेदान्त (वाक्यों) का उपबृंहण करना चाहिए अल्पश्रुत (बहुत कम जानकार व्यक्ति) से वेद इसलिए सदा भयभीत होता रहता है कि वह मुझे प्रतारित (अपमानित) कर देगा। इस शास्त्र के द्वारा ज्ञात होता है कि इतिहास एवं पुराणों के द्वारा वेदान्त वाक्यों का उपबृंहण करना चाहिए। 'जिनने सभी वेदों (वेदान्तों) एवं उनके अर्थों को अध्ययन करके जान लिया है तथा अपने योगैश्वर्य के द्वारा वेदतत्त्वों के अर्थों का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे महर्षियों के वाक्यों के सहारे अपने द्वारा जाने गये वेद वाक्यों के अर्थों का विशदीकरण ही उपबृंहण कहलाता है। वेदों की सभी शाखाओं के वाक्यों के अर्थ का अल्पभाग सुनने के कारण उनके अगम्य होने से, इतिहास पुराण की सहायता के बिना किसी भी वेदान्त वाक्य का निश्चय नहीं किया जा सकता है अतएव उपबृंहण (विशदीकरण) करना ही चाहिए।

टिप्पणी– इतिहास पुराणाभ्याम्– इत्यादि श्लोक में वेद शब्द वेदान्त का वाचक है। वेदों के उपबृंहण धर्मशास्त्र इतिहास एवं पुराण आदि हैं। इनमें धर्मशास्त्रों के द्वारा पूर्व भाग का

का उपबृंहण होता है, इतिहास एवं पुराण वेदान्तों का उपबृंहण करते हैं। यह स्मृत्यधिकरण में स्पष्ट किया गया है।

इतिहास पुराणाभ्याम्– इस पद में 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्र के द्वारा पुराण शब्द के अल्पाच् होने के कारण उसका पूर्व निपात होता है किन्तु 'अभ्यर्हितं पूर्वंप्रयोक्तव्यम्' इस नियम के अनुसार अभ्यर्हित (पूज्य) होने के कारण इतिहास का पूर्व प्रयोग हुआ है। व्यक्तीकरणम्– का अर्थ है अज्ञात अर्थ विशेषों के साथ-साथ अपने द्वारा जाने गये अर्थ विशेष का निष्कर्ष।

श्री विष्णुपुराण का प्राशस्त्य

मूल--तत्र पुलस्त्यवशिष्ठवरप्रदान लब्धपरदेवता पारमार्थ्य ज्ञानवतो भगवतः पराशरात् स्वाधिगतवेदार्थोपबृंहण-मिच्छन् मैत्रेयः परिपप्रच्छ—

'सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ ! श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति॥

(वि०पु० १।१।४)

"यन्मयं च जगद्ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीनमासीद् यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥"

(वि० पु० १।१।५) इत्यादिना

तत्र ब्रह्मस्वरूपविशेषतद्विभूति भेदप्रकारतदारा-धन स्वरूप फल विशेषाश्च पृष्टाः। ब्रह्मस्वरूपविशेष

प्रश्नेषु यतश्चैतच्चराचरमिति निमित्तोपादानयोः पृष्ट-त्वात् यन्मयमित्यनेन सृष्टिस्थितिलयकर्मभूतं जगत्किमात्मकमिति पृष्टम्, तस्य चोत्तरं जगच्च स इति। इदञ्च तादात्म्यमन्तर्यामिरूपेणात्मतया व्याप्तिकृतम्, न तु व्याप्यव्यापकयोर्वस्त्वैक्यकृतम्। यन्मयमिति प्रश्नस्योत्तरत्वाज्जगच्च स इति सामानाधिकरण्यस्य। यन्मयमिति मयडत्र न विकारार्थः पृथक् प्रश्नवैयर्थ्यात्। नापि प्राणमयादिवत् स्वार्थिकः, जगच्च स इत्युत्तरानुपपत्तेः। तथा हि विष्णुरेवेत्युत्तरमभविष्यत्, अतः प्राचुर्यार्थ एव। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इति मयट्। कृत्स्नं च जगत्तच्छरीरतया तत्प्रचुरमेव, तस्माद् यन्मय मित्यस्य प्रतिवचनं जगच्च स इति सामानाधिकरण्यं जगद् ब्रह्मणोः शरीरात्मभावनिबन्धनमिति निश्चीयते। अन्यथा निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनपरे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वाण्येतानि प्रश्नप्रतिवचनानि न संगच्छन्ते। तद्विवरण-रूपं कृत्स्नं च शास्त्रं न संगच्छते। तथा हि सति प्रपञ्च भ्रमस्य किमधिष्ठानमित्येवंरूपस्यैकस्य प्रश्नस्य निर्वि-शेषज्ञानमात्रमित्येवं रूपमेकमेवोत्तरं स्यात्। जगद्ब्रह्म-

णोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्यसंकल्पत्वादिः कल्याणगुणैकतानता निखिलहेयप्रत्यनीकता च बाध्यते, सर्वाशुभास्पदञ्च ब्रह्म भवेत् ।

अनुवाद– श्री विष्णुपुराण में पुलस्त्य और वशिष्ठ दोनों महर्षियों के वरदान को प्राप्त करके जिनको परा देवता विषयक यथार्थ ज्ञान हो गया है ऐसे भगवान् पराशर के द्वारा ज्ञात वेदार्थों का उपबृंहण चाहते हुए श्री मैत्रेय ने (महर्षि पराशर से) निम्न श्लोकों के द्वारा पूछा–

हे (पुत्र एवं शिष्य में समान बुद्धि वाले तथा आश्रित संरक्षण परायण) धर्म के ज्ञाता महर्षे (पहले आपके ही सन्निकट में सारी विद्याओं को जानकर मैं जिस तरह से जगत् उत्पन्न हुआ तथा पुनः जिस तरह से होगा उसे मैं आपसे जानना चाहता हूँ। हे ब्रह्मन् यह जगत् जिससे परिपूर्ण (व्याप्त) है तथा जो इस सम्पूर्ण जडचेतनात्मक जगत्के उपादान तथा निमित्त कारण हैं। प्रलयकाल में यह जगत् जहाँ तथा जिसमें लीन था तथा पुनः (प्रलयकाल में) जिसमें इसका लय होगा उसे मैं जानना चाहता हूँ।

इन दोनों श्लोकों में ब्रह्म का स्वरूप विशेष, उनकी विभूतियों के भेद तथा प्रकार, ब्रह्म की आराधना का स्वरूप तथा ब्रह्म की आराधना के फल संबन्धी प्रश्न पूछे गये हैं। ब्रह्म के स्वरूप विषयक प्रश्नोंमें 'यतश्चैतच्चराचरम्' इस वाक्यांश से जगत् के उपादान और निमित्त कारण संबन्धी प्रश्न पूछे जाने के कारण 'यन्मयम्' इस पद के द्वारा सृष्टि, स्थिति और लय के विषयभूत

जगत् की आत्मा क्या है? (अर्थात् जगत् का व्यापक तत्व क्या है?) यह पूछा गया है। और इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि पराशर ने कहा– "जगच्च सः" (अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक ही है।) जगत् की आत्मा ब्रह्म इसलिए है कि वह सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त है। (उस व्याप्ति के कारण ही जगत् का ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध होता है) व्याप्यव्यापक भाव के कारण वस्तु की एकता के कारण नहीं। 'यन्मयम्' इस प्रश्न का उत्तर 'जगच्च सः' इस सामानाधिकरण्य पद से दिया गया है। यहां पर मयट् प्रत्यय विकारार्थक नहीं है, क्योंकि मयट् प्रत्यय को विकारार्थक मानने पर अलग जो 'यन्मयम्' यह प्रश्न किया गया है, वह व्यर्थ हो जायेगा, इस प्रश्न का काम 'यतश्चैतच्चराचरम्' इस प्रश्न से ही चल जाता। 'यन्मयम्' में 'प्राणमयम्' इत्यादि प्रयोगों में होने वाले मयट् प्रत्यय के समान् स्वार्थ में भी मयट् प्रत्यय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर उसका उत्तर 'विष्णुरेव' (अर्थात् विष्णु ही हैं) यही होता न कि 'जगच्च सः' यह। अतएव यन्मयम् में 'तत्प्रकृत वचने मयट्' इस सूत्र से प्राचुर्य के अर्थ में ही मयट् प्रत्यय समझना चाहिये। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर होने के कारण ब्रह्मप्रचुर ही है। अतएव यह निश्चित होता है कि 'यन्मयम्' इस प्रश्न का उत्तर 'जगच्च सः' इसलिए दिया गया है कि जगत् और ब्रह्म में शरीर एवं आत्मभाव रूप संबन्ध है।

इसके विपरीत यदि इस शास्त्र को निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक माना जाय तो इन सभी प्रश्नों और उत्तरों की कोई

संगति नहीं होगी। और इन प्रश्नों तथा उत्तरों की व्याख्यारूप सम्पूर्ण (श्री विष्णुपुराण नामक) शास्त्र के होने से यह सम्पूर्ण शास्त्र ही असंगत हो जायेगा। किञ्च शास्त्र को (निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक) मानने पर प्रपञ्च भ्रमका अधिष्ठान क्या है? केवल इस एक ही प्रश्न का 'निर्विशेष ज्ञानमात्र ही' यह एक ही उत्तर होना चाहिये। यदि सामानाधिकरण्य को जगत् और ब्रह्म के एक द्रव्यत्व का प्रतिपादक माना जाय तो उसकी सत्य संकल्पत्व आदि सम्पूर्ण कल्याण गुणों का एकमात्र आश्रयत्व तथा अखिलहेय प्रत्यनीकत्व ये दोनों विशेषतायें बाधित हो जायेंगी। किञ्च ब्रह्म सभी अशुभों का भाजन हो जायेगा।

टिप्पणी– तत्र पुलस्त्यवशिष्ठ इत्यादि वाक्य के द्वारा श्री विष्णुपुराण के प्रथमाध्याय की कथा की सूचना दी गई है। वह यह कि जब महर्षि विश्वामित्र की प्रेरणा से किसी राक्षस ने महर्षि पराशर के पिता को खा लिया इससे क्रुध होकर महर्षि पराशर ने एक सत्र का आरम्भ किया जिसमें अनेकों राक्षस भस्म हो गये। यह देखकर उनके पितामह वशिष्ठ ने कहा पुत्र तुम्हारे पिता का ऐसा अदृष्ट था जिसके कारण राक्षस ने उन्हें खा लिया। अतएव क्रोध करना व्यर्थ है, इससे अपनी ही क्षति होती है। अतः यह सत्र बन्द करो। उनकी आज्ञा से महर्षि पराशर ने वह सत्र बन्द कर दिया, इससे प्रसन्न होकर वहाँ पर पधारे हुए महर्षि पुलस्त्य ने उन्हें वरदान दिया कि तुम सभी शास्त्रों के ज्ञाता होगे तथा तुम पुराण संहिता के रचयिता होओगे। यह सुनकर श्री वशिष्ठ जी ने कहा– वत्स पुलस्त्य जी ने जो कुछ भी कहा है वह सत्य होगा।

इस तरह महर्षि पुलस्त्य तथा श्री वशिष्ठजी इन दोनों महर्षियों की कृपा के कारण पराशर जी को दैवत याथात्म्य का ज्ञान हो गया था।

मूल--आत्मशरीरभाव एवेदं सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते,

अतः— 'विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥'
(वि० पु० १।१।३५)

इति संग्रहेणोक्तमर्थं 'परः पराणामित्यारभ्य विस्तरेणवक्तु 'परब्रह्मभूतं भगवन्तं विष्णुं स्वेनैव रूपेणावस्थितम् 'अविकाराय' इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य तमेव हिरण्यगर्भस्वावतारशङ्कररूपत्रिमूर्तिप्रधान काल-क्षेत्रज्ञ समष्टिव्यष्टिरूपेणावस्थितञ्च नमस्करोति। तत्र 'ज्ञानस्वरूपम्' इत्ययं श्लोकः क्षेत्रज्ञव्यष्ट्यात्मनाऽवस्थितस्य परमात्मनः स्वभावमाह, तस्मान्नात्र निर्विशेषवस्तु प्रतीतिः। यदि निर्विशेषज्ञानरूपब्रह्माधिष्ठान भ्रमप्रतिपादनपरं शास्त्रम्। तर्हि—

'निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥ (वि०पु० १।३।१)

इति चोद्यम्—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।"

(वि० पु० १।३।२।३)

इति परिहारश्च न घटते । तथाहि सति—

निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्तृत्वम् ? न ब्रह्मणः पारमार्थिकः सर्गः अपितु भ्रान्ति परिकल्पित इति चोद्य-परिहारौ स्याताम् । उत्पत्त्यादिकार्यं सत्त्वादिगुण युक्तापरिपूर्णकर्मवश्यस्य कर्मसंबन्धानर्हस्य कथं सर्गा-दिकर्तृत्वमभ्युपगम्यत इति चोद्यम् ? दृष्टसकलविसजा-तीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजा-तीयस्याग्न्यादेरौष्ण्यादिवत् सर्वशक्तियोगो न विरुध्यते, इति परिहारः ।

अनुवाद– (पहले के अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि 'यन्मयम्' इस प्रश्न का जो सामानाधिकरण्येन 'जगच्च सः' यह उत्तर दिया गया है वह निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक नहीं है अपितु वह परंब्रह्म की सम्पूर्ण जगत्में व्याप्ति का शरीरात्मभाव संबन्ध को ही बतलाता है। प्रस्तुत अनुच्छेद में भी उक्त प्रकरण का पर्यालोचन करते हुए इसी अर्थ का समर्थन किया जा रहा है।)

शरीरात्मभाव संबन्ध के ही प्रतिपादन में इस सामानाधिकरण्य की मुख्यवृत्ति है, इस बात को सिद्ध करेंगे। इसीलिए भगवान् विष्णु के ही सन्निकट अथवा सत्य संकल्प से उत्पन्न उन्हीं में स्थित है। वे ही संसार की स्थिति और संयम(संहार)के कर्ता हैं, तथा वे स्वयम् (जगदात्मा होने के कारण) जगत् स्वरूप हैं। इस संक्षेपतः कथित अर्थ को विस्तार से कहने के लिए 'परः पराणाम्' इस श्लोक से प्रारम्भ करके अपने ही (अखिल हेय प्रत्यनीक तथा अखिल कल्याण गुणगणाकर) रूप से अवस्थित परंब्रह्म भगवान् विष्णु को सर्व प्रथम 'अविकाराय' इत्यादि श्लोक से नमस्कार करके उन्हीं ब्रह्मा, विष्णु और शंकर रूप त्रिमूर्ति प्रकृति काल और जीव के समष्टि और व्यष्टि रूप में अवस्थित भगवान् विष्णु को नमस्कार करते हैं।

इसमें– 'ज्ञानस्वरूपम्' इत्यादि श्लोक क्षेत्रज्ञ (जीव) को व्यष्टि रूप से अवस्थित परमात्मा के स्वभाव को बतलाता है। अतएव इस श्लोक में निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती है।

यदि इस श्री विष्णुपुराण नामक शास्त्र को निर्विशेष ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के अधिष्ठान भ्रम का प्रतिपादक माना जाय तो– प्राकृतिक सत्वादि, शून्य कालाद्यनवच्छिन्न, कर्मकृत शरीर रहित, पुण्य पापादि संस्कार शून्य (अमलात्मा)ब्रह्म का सर्गादि (सृष्टि, स्थिति, लय, मोक्षप्रदान, अन्तः प्रविश्य नियमनादि) का कर्तृत्व कैसे स्वीकार किया जाता है ? मैत्रेय की यह शंका तथा–

हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय ? जैसे सभी वस्तुओं को विलक्षण

शक्तियां तर्क जन्य ज्ञान का विषय नहीं बनती उसी तरह (स्वेतर समस्त विलक्षण परं ब्रह्म की सृष्टि आदि करने की शक्ति उसी तरह स्वाभाविक सामार्थ्य रूप है। जैसे अग्नि की उष्णता स्वाभाविक शक्ति है।

—यह महर्षि पराशर का उतर ये दोनों नहीं संगत हो सकते।

निर्विशेष ज्ञानरूपब्रह्माधिष्ठान के भ्रम का प्रतिपादक शास्त्र को मानने पर तो— निर्गुण ब्रह्म कैसे सृष्टि कर सकता है ? यह प्रश्न तथा वस्तुतः ब्रह्म जगत् की सृष्टि नहीं करता, अपितु उसका जगत् स्रष्टृत्व आदि भ्रम परिकल्पित है। यह उत्तर होता।

श्री मैत्रेय के उपर्युक्त प्रश्न का आशय है कि— सृष्टि आदि कार्य तो उसीके देखे जाते हैं जो सत्त्वादि प्राकृतिक गुणों से युक्त, अपरिपूर्ण तथा कर्मवश्य हो किन्तु ब्रह्म तो सत्त्वादि प्राकृतिक गुणों से रहित, परिपूर्ण तथा कर्मों के सम्बन्ध के योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में उसकी सृष्टि आदि का कर्तृत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? और उसके उत्तर का आशय है कि— जैसे जल आदि सभी द्रव्यों से भिन्न अग्नि की स्वाभाविक शक्ति उष्णता है उसी तरह, स्वेतर समस्त विसजातीय, उपर्युक्त स्वभाव सम्पन्न ही ब्रह्म में सभी शक्तियों का योग होना विपरीत नहीं है।

टिप्पणी— विष्णोः सकाशादित्यादि-- श्लोक में सकाशाद् पद "सम्यक् रूपेण काशति प्रकाशते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् के ज्ञान रूपी सत्य संकल्प का वाचक है। और उसको

ही यहाँ पर जगत् का कारण बतलाया गया है। और 'जगत् तत्रैव च स्थितम् कहकर यह सूचित किया गया है कि जगत् के एकमात्र आश्रय श्री भगवान् ही हैं। इस श्लोक के तृतीय पाद में भगवान् को जगन्नियामक बतलाया गया है।

चतुश्लोकी की व्याख्या

मूल—'परमार्थस्त्वमेवैकः' इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं वदति, अपितु कृत्स्नस्य तदात्मकतया तद् व्यतिरेकेणावस्थितस्यापारमार्थ्यम्। तदेवोपपादयति—'तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्।' इति। येनत्वयेदं चराचरं व्याप्तम् अतस्त्वदात्मकमेवेदं सर्वमिति त्वदन्यः कोऽपि नास्ति, अतः सर्वात्मतया त्वनेवैकः परमार्थः। अत इद मुच्यते— तवैष महिमा या सर्वव्याप्तिरिति। अन्यथा तवैषा भ्रान्तिरिति-वक्तव्यम्, जगतः पते इत्यादीनां पदानां लक्षणा च स्यात्। लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराहस्य स्तुतिप्रकरण विरोधश्च। यतः कृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वयात्मतया व्याप्तत्वेन तवमूर्तम्, तस्मात्त्वदात्मकत्वानुभव-साधनयोगविरहिण एतत्केवल-देवमनुष्यादिरूपमिति भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्तीत्याह 'यदेतद् दृश्यते' इति। न केवलं वस्तुतस्त्वदात्मकं जगत्, देव-

मनुष्याद्यात्मकमितिदर्शनमेव भ्रमः, ज्ञानाकाराणामात्मनां देवमनुष्याद्यर्थाकारत्वदर्शनमपि भ्रम इत्याह, "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" इति। ये पुनर्बुद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदः सर्वस्य भगवदात्मकत्वानुभवसाधन योग योग्य परिशुद्धमनसश्च, ते देवमनुष्यादि प्रकृति परिणाम विशेष शरीररूपमिदमखिल जगच्छरीरातिरिक्तज्ञानस्वरूपात्मकं त्वच्छरीरञ्च पश्यन्ती त्याह्— 'ये तु ज्ञान विदः' इति। अन्यथा श्लोकानां पौनरुक्त्यम्, पदाना लक्षणा, अर्थविरोधः प्रकरणविरोधः, शास्त्रतात्पर्य विरोधश्च।

अनुवाद– "महापूर्व पक्ष में अद्वैती विद्वानों ने 'परमार्थस्त्वमेवैकः' इत्यादि चार श्लोकों को निर्विशेष वस्तु के सिद्धयर्थ उद्धृत किया है। उसका खण्डन करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं" 'परमार्थस्त्वमेवैक.' इत्यादि चार श्लोक भी सम्पूर्ण जगत् को अपरमार्थ नहीं बतलाते बल्कि वे सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्मात्मक होने के कारण उससे भिन्न रूप से अवस्थित वस्तु को अपरमार्थ बतलाते हैं। इसी को सिद्ध करते हैं– नवैत इत्यादि– (अर्थात् जिस आपके द्वारा जड़ चेतन सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस आपका ही यह ऐश्वर्य है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं– (चूंकि आपके द्वारा चराचर व्याप्त है, अतएव यह

सम्पूर्ण जगत् त्वदात्मक है। भगवदात्मक से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव सबों की आत्मा होने के कारण केवल आप ही परमार्थ हैं। महर्षि पराशर कहते हैं– भगवन् यह आपकी महिमा है कि आप सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो 'तवैष महिमा' न कहकर "तवैषा भ्रान्तिः" महर्षि को कहना चाहिये था। साथ ही (निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक इस श्लोक को मानने पर) जगतः पते इत्यादि सभी पदों में लक्षणावृत्ति स्वीकार करनी होगी। (क्योंकि जब जगत् है ही नहीं तो ब्रह्म उसके पति कैसे होंगे।) लीला पूर्वक पृथ्वी का उद्धार करने वाले भगवान् वाराह की स्तुति केप्रकरण का भी विरोध होगा। (क्योंकि गुणी के गुणों का वर्णन ही उसकी स्तुति होती है। और निर्विशेष वाद में तो ब्रह्म का कोई गुण स्वीकार ही नहीं किया जाता है।)

यदेतद् दृश्यते– (इत्यादि श्लोक का अभिप्राय है कि–) भगवदात्मक जगत् को देवमनुष्य आदि रूप से देखना ही केवल भ्रम नहीं है अपितु ज्ञानस्वरूप वाले आत्माओं को देवमनुष्य आदि विषय रूप से देखना भी भ्रम है, इस बात को 'ज्ञानस्वरूपम्' इस पद से कहा गया है। और जो ज्ञान स्वरूप आत्मा के जानकर आत्म ज्ञानी हैं तथा सम्पूर्ण जगत् को भगवदात्मक अनुभव के परिणाम विशेष रूप इस सम्पूर्ण जगत् को और शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप (आत्मा रूपी) आपके (भगवान् के) शरीर को देखते हैं। इस बात को (महर्षि पराशर ने) कहा– 'जो आत्म ज्ञानी

हैं' इत्यादि श्लोक से। यदि ऐसा उक्त चतुःश्लोकी का अर्थ नहीं माना जाय तो श्लोकों की पुनरुक्ति होगी, पदों में लक्षणा माननी होगी, तथा अर्थ, प्रकरण एवं शास्त्र के तात्पर्य का विरोध होगा।

टिप्पणी—श्री विष्णुपुराण के १।४।३८–४१ इन चार श्लोकों को महापूर्व पक्ष में अद्वैती विद्वानों ने अपने पक्ष की सिद्धि हेतु उद्धृत किया है। किन्तु उन श्लोकों द्वारा उनके अभिप्रेत की सिद्धि संभव नहीं है। उन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है

परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतां पते।
तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम् ॥१॥

हे सम्पूर्ण जगत् के रक्षक प्रभो। चूंकि आप सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण होने के कारण इस चराचर जगत् में व्याप्त हैं। अतएव यह सम्पूर्ण जगत् के त्वदात्मक (भगवदात्मक) होने के कारण केवल आप (ब्रह्म) ही परमार्थ हैं, भगवदात्मक (ब्रह्मात्मक) से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है।

"यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ॥२॥"

जो यह जगत् दिखाई देता है, ज्ञानात्मक आपके द्वारा आत्मा रूप से व्याप्त होने के कारण, आपकी मूर्ति है। अतएव जो सम्पूर्ण जगत् को त्वदात्मक (ब्रह्मात्मक) अनुभव के साधन भूत योग से रहित हैं, वे इस जगत् को ब्रह्मात्मक न देखकर केवल देव मनुष्य आदि रूप से ही समझते हैं।

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थं स्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे ॥

वास्तविकता तो यह है कि ब्रह्मात्मक जगत् को केवल देव मनुष्य आदि रूप से ही देखना मात्र भ्रम नहीं है अपितु ज्ञान स्वरूप आत्माओं को भी देव मानव आदि (विषय) रूप से देखना भी भ्रम है। (इस श्लोक में ज्ञान स्वरूप पद ज्ञानगुण प्रधान जीवों का वाचक है। इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि प्रकृति और पुरुष के विवेक के बिना आपका दर्शन कैसे संभव है।

ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥

और जो ज्ञानस्वरूप आत्माओं के जानकार तथा सम्पूर्ण जगत् को भगवदात्मक अनुभव के साधनभूतयोगार्ह मन वाले ज्ञानीजन हैं, हे परमेश्वर वे आपके देव, मानव आदि प्रकृति के परिणाम विशेष स्वरूप सम्पूर्ण जगत् तथा तद् व्यतिरिक्त ज्ञान स्वरूप आपके शरीर को देखते हैं।

यदि इन श्लोकों का ऐसा अर्थ नहीं माना जाय तो पांच दोष होंगे– [१] श्लोकों की पुनरुक्ति [२] पदों कीलक्षणा [३] अर्थ विरोध [४] प्रकरण विरोध और [५] शास्त्र तात्पर्य विरोध [१] स्वातन्त्र्य भ्रम आदि के अपगम के अभाव में पुनरुक्ति मात्र होगी। [२] इस प्रकरण को निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादक तथा जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादक मानने पर जगतःपते, तव महिमा आदि पदों में लक्षण स्वीकार करनी होगी [३] प्रत्याक्षादि

प्रमाण सिद्ध समस्त जागतिक पदार्थों को मिथ्या मानने पर प्रमाण विरोध, तिरोधानानुपपति आदि अर्थ विरोध होंगे। प्रस्तुत प्रकरण भगवान् महावराह की स्तुति रूप है। स्तुति गुणी के गुणों का वर्णन रूप होती है। निर्विशेप वस्तु का प्रतिपादन मानने पर प्रस्तुत प्रकरण का ही विरोध होगा। [४] इस शास्त्र के उपक्रम उपसंहार आदि में भगवान् के अभिन्न जगन्निमितो पादनत्व, उभयविभूति नायकत्व, उभयलिङ्गत्व, आदि का प्रतिपादन किया गया हैं। निर्विशेप वस्तु के प्रतिपादन रूप अर्थ को मानने पर उक्त शास्त्र के तात्पर्य का विरोध होगा।

ब्रह्माद्वैत तथा जीवाद्वैत का विवेचन

मूल--'तस्यात्म परदेहेषु सतोऽप्येकमयम्' इत्यत्र सर्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देवमनुष्यादि प्रकृतिपरिणाम विशेपरूपपिण्ड संसर्गकृतमात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतथ्यमित्युच्यते। पिण्डगतमात्मगतमपि द्वैतं न प्रतिषिध्यते। देवमनुष्यादिविविधिविचित्र पिण्डेषु वर्तमानं सर्वमात्मवस्तु समानमित्यर्थः। यथोक्तं भगवता "शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः (गी०५।१८) 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गी० ५।१९) इत्यादिषु, "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि" इति देहातिरिक्ते वस्तुनि स्वपर

विभागस्योक्तत्वात् ।। "यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि" इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते, यदि मत्तः परः कोऽप्यन्य इत्येकस्मिन्नर्थे परशब्दान्यशब्दयोः प्रयोगायोगात् तत्रपरशब्द स्स्वव्यतिरिक्तात्मवचनः अन्यशब्दस्तस्यापि ज्ञानैकाकारत्वादन्याकारत्व प्रतिषेधार्थः । एतदुक्तं भवति- यदि मद्व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मा मदाकारभूतज्ञानाकारादन्याकारोऽस्ति, तदाऽहमेवमाकारः अयञ्चान्यादृशाकार इति शक्यते व्यपदेष्टुम् । न चैवमस्ति, सर्वेषां ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति । 'वेणुरन्ध्रविभेदेन' इत्यत्राप्याकारवैषम्यमात्मनां न स्वरूपकृतम्, अपितु देवादिपिण्डप्रवेशकृतमित्युपदिश्यते, नात्मैक्यम् । दृष्टान्ते चानेकरन्ध्र वर्त्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम् अपित्वाकारसाम्यमेव तेषां वायुत्वेनैकाकाराणांरन्ध्रभेदनिष्क्रमणकृतो हि षड्जादि संज्ञाभेदः एवमात्मनां देवादि सञ्ज्ञाभेदः । यथा तैजसाप्यपार्थिव द्रव्यांशभूतानांपदार्थानां तत्तद् द्रव्यत्वेनैक्यमेव, न स्वरूपैक्यम् । तथा वायवीयानामंशानामपि स्वरूपभेदोऽवर्जनीयः ।

अनुवाद– (अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में अपने कथन की सिद्धि हेतु श्री विष्णुपुराण के आदि जडभरतोक्त चतुःश्लोकी को उद्धृत किया है। श्री भाष्यकार स्वामी का कहना है कि उस चतुःश्लोकी के द्वारा भी न तो निर्विशेष वस्तु की सिद्धि होती है और न तो जगत् का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है।) 'तस्यात्म परदेहेषु सतोऽप्येकमयम्' इत्यादि स्थल में भी, सभी आत्माओं के केवल ज्ञान स्वरूप होने से समान होने के कारण देवमानव आदि प्रकृति के परिणाम विशेष रूप शरीरों के संबन्ध जन्य आत्माओं में देव आदि आकार के द्वारा भेद बुद्धि अवास्तविक है, यह कहा गया है। किन्तु यहाँ शरीरगत एवं आत्मगत भेद का निषेध नहीं किया गया है। कहने का आशय है कि देव मानव आदि अनेक आश्चर्यकर शरीरों में रहने वाली सभी आत्मा नामक वस्तुयें समान (आकार वाली) हैं। जैसा कि भगवान् (ने गीता के निम्न वाक्यों में कहा है) सद् असद् का विवेक करने वाली बुद्धि से युक्त पण्डितजन श्वान एवं चाण्डाल की भी आत्मा के विषय में समान बुद्धि रखते हैं।' 'सभी शरीरों में रहने वाली आत्मायें निर्दोष एवं समानआकारवाली हैं।(इस तरह आत्मा का भेद सिद्ध ही होता है।) 'तस्यात्म परदेहेषु सतोऽपि' इस वाक्य में भी शरीर से भिन्न आत्माओं में स्व एवं पररूप से भेद वर्णित ही है।

'यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि' इस वाक्य में भी आत्मा की एकता नहीं प्रतीत होती है। 'यदि मुझसे भिन्न कोई अन्य भी होता। इस वाक्य में एक ही अर्थ में परशब्द एवं अन्य शब्द

अपने से भिन्न आत्मा का वाचक है। अन्य शब्द यह बतलाता है कि वह भिन्न आत्मा भी ज्ञान स्वरूप ही है उसका कोई दूसरा आकार नहीं है।

कहने का आशय यह है कि– यदि मुझसे भिन्न कोई भी आत्मा मेरे ज्ञानाकार से अन्य आकार वाली होती तो फिर यह कहा जा सकता था कि मेरा यह आकार है और यह (मुझसे भिन्न जो आत्मा है वह) भिन्न आकार वाली है। किन्तु ऐसी बात तो है नहीं, क्योंकि सभी आत्माओं का आकार ज्ञानस्वरूप ही है अतएव सभी आत्मायें समान हैं।

'वेणुरन्ध्र विभेदेन' इस श्लोक में भी यही बतलाया गया है कि आत्माओं में जो आकार का भेद प्रतीत होता है वह स्वरूप के भेद के कारण नहीं, अपितु देव इत्यादि शरीर विशेष में आत्माओं के प्रवेश करने के कारण है। अतएव इस श्लोक में आत्मा की एकता का प्रतिपादन नहीं किया जाता है। दृष्टान्त में यह बतलाया गया है कि वेणु के अनेक रन्ध्रों (छिद्रों) मे रहने वाली वायु में स्वरूपतः भेद नहीं अपितु उनमें आकार की समता ही है। उन सबों के वायु होने पर भी वेणु के भिन्न भिन्न छिद्रों से निकलने के ही कारण षड्ज आदि नामों में भेद होता है। इस तरह आत्माओं में आकार की समता होने पर भी प्रकृति के परिणाम विशेष भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रवेश करने के कारण देव आदि संज्ञाओं का भेद होता है। जैसे-तैजस जलीय एवं पार्थिव द्रव्यों के अंशभूत पदार्थों में तत् तत् द्रव्यत्वेन

एकता है ही फिर भीं उनमें स्वरूपतः एकता नहीं है, उसी तरह वायु के अंशों में वायुत्वेन एकता रहने पर भी स्वरूपतः उनमें भेद है ही।

मूल—'सोऽहं सचत्वमि'ति सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानाकारत्वं तच्छब्देन परामृश्य तत्सामानाधिकरण्येनाहं त्वमित्यादीनामर्थानां ज्ञानमेवाकार इत्युपसंहरन् देवाद्याकारभेदेनात्मसु भेदमोहं परित्यजेत्याह। अन्यथा—देहातिरिक्तात्मोपदेश्य स्वरूपे अहं त्वं सर्वमेतदात्मस्वरूपमिति भेदनिर्देशो न घटते। अहं त्वमादि शब्दानामुपलक्षयेण सर्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न सङ्गच्छते।। सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह— "तत्याजभेदं परमार्थं दृष्टिः।" इति। कुतश्चैष निर्णय इति चेत्, देहात्मविवेक विषयत्वादुपदेशस्य, तच्च,—'पिण्डः पृथग् यतः पुंसः शिरः पाण्यादि लक्षणः" इति प्रक्रमात्।

अनुवाद— सोऽहं सचत्वम् इत्यादि श्लोक में भी तत् शब्द से पूर्वोक्त सभी आत्माओं की ज्ञानकारता का परामर्श करके उसके सामानाधिकरण्य रूप से उक्त अहम् त्वम् आदि पदों का अर्थ (आत्मा) ज्ञानाकार ही है. इस अर्थ का उपसंहार करते हुए देव आदि आकार भेद के कारण आत्माओं के 'स्वरूपतः' भेद रूपी मोह का त्याग कर दो, यह कहा गया है। इस श्लोक

का देह से भिन्न ही आत्मा का स्वरूप उपदेश्य है, ऐसा अर्थ मानने पर अहं त्वम् आदि ये सभी आत्मा स्वरूप हैं, इस तरह का भेद निर्देश नहीं संगत हो सकता है। 'मैं' 'तुम' आदि शब्दों के द्वारा उपलक्षित किये जाने योग्य सब कुछ यह आत्मा स्वरूप ही है, इसके साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण 'अहं' 'त्वम्' ('मैं' 'तुम') आदि का उपलक्षणत्व भी नहीं संगत होगा। और उस (राजा) ने उपदेशानुसार कार्य किया भी– इस बात को 'परमार्थ दृष्टि होने के कारण उस राजा ने भेद दृष्टि का त्याग कर दिया। इस श्लोक से बतलाया गया है।

यदि यहाँ पर आप यह पूछें कि आपने ऐसा निर्णय किस आधार पर किया ? तो इसका उत्तर है कि यह आदि जड़भरत का उपदेश ही देहात्मविवेक विषयक है। क्योंकि इस उपदेश का उपक्रम ही– "चूँकि शिर हाथ आदि अंग स्वरूप शरीरआत्मा से भिन्न है) इस वाक्य से होता है।

टिप्पणी– अद्वैती विद्वानों ने आत्मैकत्व की सिद्धि हेतु आदि जड़भरतोक्त चार श्लोकों को महापूर्व पक्ष में उद्धृत किया है। महापूर्व पक्ष के प्रारम्भ में उन श्लोकों का अद्वैती सम्मत अर्थ लिखा जा चुका है। यहाँ पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त सम्मत तथा श्लोकों का वास्तविक अर्थ लिखा जा रहा है।

तस्यात्म परदेहेषु सतोऽप्येक मयं हि यत् ।

विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्य दर्शनः ॥ २।१४।३१

अर्थ– अपने तथा अपने से भिन्न शरीरों में विद्यमान उस आत्मा का जो विज्ञान स्वरूप आकार है, वही परमार्थ है। शरीरों में विद्यमान आत्मा में जो देवमानव आदि रूप से भेद बुद्धि करते हैं, वे परमार्थ द्रष्टा नहीं है। क्योंकि देवमानव आदि शरीर तो प्रकृति के परिणाम रूप हैं, आत्माओं के परस्पर में भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनके आकार में कोई भेद नहीं है। सभी आत्मायें विज्ञान स्वरूप हैं, चाहे वह देव शरीर में हों, या मानव शरीर में अथवा पशु शरीर में।

यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिव सत्तम।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते।(वि०पु०२।१३।९०

अर्थ– हे राजवर्य यदि मेरे ज्ञानाकार से भिन्न कोई अन्य प्रकार वाली आत्मा होती तो फिर यह कहा जा सकता है कि यह मैं हूँ तथा यह दूसरा है। इस तरह से कहा जा सकता है। किन्तु जब सभी आत्माओं का आकार विज्ञान स्वरूप ही है तो फिर उनमें देव, मनुष्यादि रूप शरीर भेदों के चलते आकार भेद का निर्देश कैसे किया जा सकता है। ये जाति, कुल, आदि तो आत्मा के धर्म हैं नही कि इनके चलते आत्मा को भिन्नाकार माना जा सके।

वेणुरन्ध्र विभेदेन भेदः षड्जादि संज्ञितः।
अभेद व्यापिनो वायोस्तथाऽस्य परमात्मनः।(२।१४।३२

जैसे वेणु के अनेक छिद्रों में रहने वाली एक ही वायु के भिन्न-भिन्न छिद्रों से निकलने के कारण षड्ज आदि भिन्न-भिन्न

भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं उसी तरह ज्ञानैकाकार रहने पर भी आत्माओं के भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रवेश करने के कारण उनका देव आदि शब्दों से व्यवहार एवं अभिधान होता है, किन्तु उनके आकार में कोई अन्तर नहीं होता है।

सोऽहं सचत्वं स च सर्वमेतत्,

आत्मस्वरूपं त्यजभेदमोहम्।

इतीरितस्तेन स राजवर्यः,

तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ॥ (वि०पु० २।१६।२४)

अर्थ– हम तुम और ये सभी आत्माएं ज्ञानस्वरूप हैं। अतएव इनमें देह भेद के कारण प्रतीत होने वाले देवादि रूप भेद के मोह का त्याग कर दो। इस प्रकार से उस जड़ भरत के कहने पर वह राजा (सोवीराधिपति) परमार्थ दृष्टि युक्त होकर भेद बुद्धि का त्याग कर दिया।

इस श्लोक में सभी आत्माओं के ज्ञानाकारत्व का तत् शब्द से परामर्श करके उनमें प्रतीत होने वाले देवादि भेद का निषेध किया गया है, आत्माओं के भेद का निषेध नहीं किया गया है क्योंकि आत्माओं के स्वरूप भेद का इस श्लोक को निषेधक मानने परयहांपर देह से भिन्न जो उपदेश्य आत्मा है, उसमें मैं, तुम और ये सभी आत्मा स्वरूप है, इस प्रकार का भेद निर्देश संभव नहीं है। और यह प्रकरण भी देहात्म विवेकपरक है, यह इसके उपक्रम से ही सिद्ध हो जाता है।

श्री विष्णु पुराण के उपसंहार वाक्य की व्याख्या

मूल–'विभेद जनके ज्ञाने' इति च नात्मस्वरूपैक्य परम्, नापि जीव-परयोः। आत्मस्वरूपैक्यमुक्तरीत्या निषिद्धम्।

जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यं देहात्मनोरिव न सम्भवति।
तथा च श्रुतिः—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।"
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥"

(मु० उ० ३।१।१)

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्यलोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्न्यो ये च त्रिणाचिकेता॥"

(कठ० उ० ३।१)

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (य० आ० ३।२०)
इत्याद्याः। अस्मिन्नपि शास्त्रे—

स सर्वभूत प्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः
अतीत सर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद्भुवनांतराले॥

(वि०पु० ६।५।८)

'समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ।' (६।५।८४)
'परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे

(६।५।८५)

'अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप! सर्वगा॥

(६।७।६१)

इति भेद व्यपदेशात् ।

'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।' (ब्र० सू० १।२।२१) 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' (ब्र० सू० १।१।२१) 'अधिकं तु भेद निर्देशात्' (ब्र० सू० २।१।२२) इत्यादि सूत्रेषु च । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मान वेद यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यनयति" (बृ० उ० ५।७।२२ 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' (बृ० ४।३।२१) 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः' (बृ० ४।३।३५) इत्यादिभिरुभयोरन्योन्यप्रत्यनीकाकारेण स्वरूपनिर्णयात् ।

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में आत्मैकत्व की सिद्धि के लिए 'विभेदजनके ज्ञाने' इत्यादि श्री विष्णु पुराण के उपसंहार वाक्य को उद्धृत किया है। श्री भाष्यकार स्वामी जी का कहना है कि उक्त श्लोक के द्वारा भी आत्मैकत्व की सिद्धि नहीं सम्भव है। वे कहते हैं– अद्वैती विद्वानों को इस श्लोक से क्या सभी आत्माओं की एकता अभिप्रेत है ? अथवा जीवात्मा और परमात्मा की एकता अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि–

'विभेदजनकेज्ञाने' इत्यादि श्लोक भी आत्माओं के स्वरूप की एकता का प्रतिपादन नहीं करता है। और न तो जीवात्मा और परमात्मा की ही एकता बतलाता है। जीवात्मा की एकता

का निषेध तो उपर्युक्त चतुःश्लोकी की व्याख्या द्वारा किया जा चुका है। जीवात्मा और परमात्मा के भी स्वरूप की एकता उसी तरह संभव नहीं है जिस तरह देह और आत्मा की एकता संभव नहीं है - श्रुति भी कहती है– एक ही शरीर रूपी वृक्ष में जीवात्मा एवं परमात्मा रूपी दो सुन्दर पंख वाले सहवर्ती मित्र पक्षियों का निवास है। उन दोनों में एक जीवात्मा शरीर रूपी वृक्ष के फलों सुख-दुःख (आदि) का भोग का करता है और दूसरा (परमात्मा) उसका आस्वाद लिए बिना हृष्ट पुष्ट एवं प्रसन्न रहता है। (यह श्रुति जीव के कर्म फलभोक्तृत्व तथा परमात्मा के कर्मों से असम्पृक्तत्व का प्रतिपादन करती है) तथा अध्यात्मविद पञ्चाग्निपरायण तथा त्रिणाचिकेत (कर्मविशेषनिष्ठ) तत्ववेत्ता महर्षि जो हैं वे बतलाते हैं कि इसी लोक में सुकृत के फलों का (प्रयोज्य प्रयोजकभावरूप से) भोग करते हुए उत्तमोतम हार्दाकाश में छाया और आतपके समान (अज्ञ एवं ज्ञ) जीवात्मा एवं परमात्मा) विद्यमान हैं। (यह श्रुति परमात्मा एवं जीवात्मा को सुकृत के फलों के उपभोग में परमात्मा को प्रयोजक एवं जीवात्मा को प्रयोज्य बतलाती है। दोनों के स्वभाव को भी ज्ञ एवं अज्ञ रूप से छायातपौ पद के द्वारा बतलाती है। निम्न श्रुति यह बतलाती है कि परमात्मा सबों के हृदय में प्रवेश करके सबों का नियमन करता है) परमात्मा सबों के हृदय में प्रविष्ट, तथा सभी जीवों का नियामक होने से सबों की आत्मा है।

इस श्री विष्णुपुराण में भी हे मैत्रेय ! वह परंब्रह्म सभी भूतों की प्रकृति (अव्यक्त) उसके विकारभूत महदादि तथा उसके

गुण आदि दोषों से तथा सभी आवरणों से रहित होने के कारण स्वेतर समस्त विलक्षण तथा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है, जो कुछ भी लोक में सत् असत् वस्तु समुदाय है उन सबों में वह व्याप्त है ।' 'वह परमात्मा सभी कल्याण गुणों के स्वभाव वाला है ।' 'परमात्मा सर्वोत्कृष्ट तथा स्वेतर समस्त जगत् का नियामक है तथा उसमें क्लेश आदि (कर्म कर्मों की वासना तथा उनके परिणाम) कोई भी दोष नहीं है ।' 'हे राजन् ! कर्म संज्ञक अविद्या नामकी एक तीसरी शक्ति है, जिसके द्वारा सर्वगत क्षेत्रज्ञ शक्ति व्याप्त है ।' इन सभी वाक्यों में जीव और ब्रह्म के बीच भेद का प्रतिपादन किया गया है।

निम्न सूत्रों में भी जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच भेद का प्रतिपादन किया गया है। ('माध्यन्दिन एवं काण्वशाखाध्यायी) दोनों ही प्रकार के विद्वान् अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न रूप से ही जीवात्मा का अध्ययन करते हैं ।' (१।२।२१) 'य आदित्ये तिष्ठन् आदि श्रुतियां आदित्यादि जीवों से परमात्मा की भिन्नता बतलाती हैं अतएव वह उनसे भिन्न है' (१।१।२२) 'आध्यामिक आदि दुःखों से रहित परमात्मा जीवों से भिन्न है। (२।१।२२) (ये सभी ब्रह्मसूत्र जीवात्मा और परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करते हैं। निम्न श्रुतियां भी जीवात्मा और परमात्मा में भेद बतलाती हैं– "जो परमात्मा आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से रहते हुए आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है शरीर होने के कारण आत्मा जिसे जान नहीं पाता और जो आत्मा के भीतर

रहकर उसका नियमन किया करता है।" "सुषुप्तिकाल में जीवात्मा आनन्दमय परमात्मा से अच्छी तरह से उपगूहित रहता है।) (४।३।२१) यह जीवात्मा परमात्मा से अधिष्ठित है। (४।३।३५) ये सभी वाक्य जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर प्रत्यनीक रूप से इनके स्वरूप का निर्णय करते हैं।

टिप्पणी– अद्वैती विद्वानों ने अपने कथ्य की सिद्धि के लिए श्री विष्णु पुराण के जिन श्लोकों को उद्धृत किया है उनमें अन्तिम श्लोक है–

"विभेद जनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥"(६।७।९६)

यह विष्णु पुराण का उपसंहार वाक्य है, इस श्लोक का प्रकरणानुसार अर्थ निम्न प्रकार का है–

ज्ञानस्वरूप आत्मा में देवमानव आदि विविध भेदों के होने के कारणभूत कर्म नामक अज्ञान का परंब्रह्म के दर्शन के द्वारा बिल्कुल नाश हो जाने पर परंब्रह्म से आत्मा का देव आदि रूप से भेद कौन करेगा। अतएव यह भी श्लोक आत्मा की अनेकता का निषेध न करके आत्मा के देव मानव आदि रूप से प्रतीत होने वाले भेद का निषेध करता है।

"मुक्ति में जीव और ब्रह्म के स्वरूपैक्य का खण्डन"

मूल--नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्य संभवः, अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासम्भवात्।

यथोक्तम्—"परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते ।
मिथ्यैतदन्यद् द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥"
(वि० पु० २।१४।२७)

मुक्तस्यतु तद्धर्मापत्तिरेव भगवद् गीतासूक्तम्—
'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥'
(१४।२) इति

इहापि—'आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुने ।
विकार्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥
(वि० पु० ६।७।३०) इति ।

आत्मनः भावम्— आत्मनः स्वभावम् । नह्याकर्षकस्वरूपापत्तिराकृष्यमाणस्य । वक्ष्यति च—'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (ब्र० सू० ४।४।२१) 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।३।२) इति ।वृत्तिरपि—'जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा' इति । द्रमिडभाष्यकारश्च—'देवतासायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत् सर्वार्थं सिद्धिः स्यात् ।' इत्याह । श्रुतयश्च-'य इहात्मानमनुविद्य व्रजत्येतांश्च सत्यान्कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो

भवति' (छा० ८।१।६) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तं०२।१।१) 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० २।१।१) 'एतमानन्द मयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्' (तै० ३।१०।५) 'स तत्र पर्येति' (छा ८।१२।३) रसोवैसः । रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।' (तै० २।७।१) 'यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' (मु० ३।२।८) तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्याद्याः ॥

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों का कहना है कि मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। क्योंकि श्रुति भी बतलाती है कि– 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' यदि जीव और ब्रह्म के स्वरूप का भेद वास्तविक होता तो फिर मुक्तावस्था में दोनों के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन श्रुति क्यों करती ? अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन प्रस्तुत अनुच्छेद में किया जा रहा है। श्री भाष्यकार कहते हैं कि–) साधनों के अनुष्ठान के द्वारा जिसकी अविद्या नष्ट हो गयी है इसका परंब्रह्म के साथ स्वरूपैक्य नहीं होता हैं। (जीव चाहे जिस स्थिति में पहुंच जाय किन्तु उसका अविद्या के साथ संबन्ध हो सकता है अतएव वह)

अविद्या का आश्रय बन सकता है' उसका अखिलहेय सम्बन्धानर्ह परं ब्रह्म स्वरूप होना संभव नहीं है। जैसा कि (श्री विष्णु पुराण में) कह गया है– (श्रुतियों को साधनों द्वारा) परमात्मा एवं आत्मा का योग (अभेद) प्रतिपादन अभिप्रेत है, तो यह कहना मिथ्या है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य कैसे हो सकता है।' श्री मद् भगवद् गीता में बतलाया गया है कि मुक्त जीव भगवान् के धर्मों (गुण ऐश्वर्यादि) को प्राप्त कर लेता है। "इस आगे कहे जाने वाले ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी समता को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिकाल में उत्पन्न नहीं होते तथा प्रलय काल में उनका नाश भी नहीं होता।" इस श्री विष्णु पुराण में भी कहा गया है– हे मुने उस ब्रह्म का ध्यान करने वाले को ब्रह्म उसी तरह से अपने स्वभाव वाला बना देता है जिस तरह अयस्कान्त मणि लोहे को अपने स्वभाव वाला बना देता है। इस श्लोक में आत्मभाव शब्द अपने स्वभाव का वाचक है। क्योंकि आकृष्य माण आकर्षक स्वरूप नहीं हो जाता है। ब्रह्मसूत्रकार भी आगे चलकर कहेंगे कि– सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रवृत्तियों का नियमन रूप व्यापार को छोड़कर जीव निर्व्याज ब्रह्मानुभवरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है, यह प्रकरण तथा असान्निध्य के द्वारा ज्ञात होता है। और परमात्मा के साथ भोगमात्र की समता रूपी हेतु के द्वारा मुक्त जीव का जगद् व्यापार राहित्य सिद्ध होता है।" ये पृथिवी आकाश आदि के आश्रयभूत परंब्रह्म मुक्त जीवों के भी आश्रय रूप हैं। ये सभी सूत्र जीवात्मा और परमात्मा के स्वभाव भेद का प्रतिपादन करते हैं। वृत्तिकार भी

कहते हैं कि– जगत् व्यापार (सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार रूप कार्य) को छोड़कर अन्य सभी अर्थों में मुक्त जीव परमात्मा के समान हो जाता है।

द्रमिडभाष्यकार भी कहते हैं– देवता (भगवान् विष्णु) के सान्निध्य से शरीर रहित (मुक्तों) की भी देवता (भगवान्) की की तरह सर्वार्थ (अवाप्त समस्तकामत्व आदि) की सिद्धि हो जाती है। श्रुतियां भी कहती हैं– जो इस संसार में ही परमात्मा को जानकर परंधाम गमन करते हैं। उनकी सारी कामनाएं सत्य होती हैं ऐसे जीवों का सभी लोकों में यथेष्ट गमन होता है।" 'ब्रह्मज्ञानी परंब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।' 'वह मुक्त जीव सर्वज्ञ परंब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।' 'इस आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त कर मुक्तात्मा स्वतन्त्र रूप से इन सभी लोकों में यथेष्ट सञ्चरण करता है। "मुक्तात्मा उस परमात्मा की त्रिपाद् विभूति को प्राप्त कर लेता है।' 'वह निश्चय ही सुकृत पदोक्त ब्रह्म रस स्वरूप है। इस रस स्वरूप परमात्मा को ही प्राप्त कर मुक्त जीव आनन्दवान हो जाता है।' जिस तरह से बहती हुई नदियाँ जाकर समुद्र में अपने नाम और रूप का त्यागकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी तरह मुक्तात्मा अपने प्राकृत नाम और रूप रहित होकर सर्वोत्कृष्ट दिव्य पुरुष परंब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।' 'जिस तरह अग्नि की ज्वाला से संस्पृष्ट रुई जल जाती है उसी तरह ब्रह्मज्ञानी विद्या के प्रभाव से अपने प्राचीन सभी सुकृत एवं दुष्कृत का नाश करके दोष रहित

होकर आविर्भूत गुणाष्टक होने के कारण परमात्मा के परम साम्य को प्राप्त कर लेता है।

(ये सभी श्रुतियाँ और सूत्र जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वभाव में भेद का प्रतिपादन करते हैं। अतएव जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है।)

मूल—परविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपास्यम्, फलं चैकरूपमेव अतो विद्याविकल्प इति सूत्रकारेणैव—'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र०सू० ३:३।११) 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' (ब्र०सू० ३।३।५७) इत्यादिपूक्तम्। वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' इति। भाष्यकृता व्याख्यातञ्च।"यद्यपि सच्चित" इत्यादिना।

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) इत्यत्रापि 'नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्' (मु० ३।२।८) 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते (छा० ८।१२।२ इत्यादिभिरैकार्थ्यात् प्राकृतनामरूपाभ्यां विनिर्मुक्तस्य निरस्त तत्कृतभेदस्य ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते। प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एव, यथा सेयं गौरिति तत्रापि—

विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव ।
प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावनः ।"

(वि० पु० ६।७।९३) इति

परब्रह्मध्यानादात्मा परब्रह्मवत् प्रक्षीणाशेषभावनः = कर्मभावना ब्रह्मभावनोभयभावनेति भावनात्रय रहितः । प्रापणीयः इत्यभिधाय ।

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य वै द्विज ।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं हि कृतकृत्यं निवर्तयेत् ॥

(वि॰पु० ६।७।९४)

इति करणस्य परब्रह्मध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावनात्मस्वरूपप्राप्त्या कृतकृत्यत्वेन निवृत्तिवचनाद् यावत् सिद्धचतुष्टयमित्युक्त्वा—

"तद्भावभावमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मना ।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥"

(वि०पु० ६।७।९५)

इति मुक्तस्य स्वरूपमाह । तद्भावः = ब्रह्मणोभावः, स्वभावः, न तु स्वरूपैक्यम् । 'तद्भावभावमापन्न' इति द्वितीय भावशब्दानन्वयात्, पूर्वोक्तार्थ विरोधाच्च । यद् ब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं तदा-

पत्तिः तद्भावभावापत्तिः । यदैवमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मा अभेदी भवति भेद रहितो भवति । ज्ञानैकाकारतया परमात्मनैक प्रकारस्यास्य तस्माद् भेदो देवादिरूपः, तदन्वयोऽस्य कर्मरूपाज्ञानमूलः, नस्वरूपकृतः । सतु देवादिभेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञानरूपे कर्मणि विनष्टे हेत्वभावान्निवर्तते इत्यभेदी भवति ।

अनुवाद– सभी परविद्याओं (ब्रह्म विद्याओं) में सगुण ब्रह्म को ही उपास्य बतलाया गया है । और उस सगुण ब्रह्म की उपासना का फल ब्रह्म के समान रूप की प्राप्ति ही है । अतएव सूत्रकार ने ही निम्न सूत्रों में सगुणोपासना एवं निर्गुणोपासना रूप विद्या के विकल्पों का प्रतिपादन निम्न सूत्रों में किया है । (३।३।११) सूत्र बतलाता है कि परंब्रह्म के आनन्द इत्यादि गुणों का सर्वत्र सन्निवेश करना चाहिये । (क्योंकि सभी विद्याओं के प्रतिपाद्य ब्रह्म तो एक ही हैं, जिस किसी ब्रह्मविद्या में उनके आनन्द आदि गुणों का वर्णन नहीं किया गया है, वहाँ भी उनका अध्याहार करलेना चाहिए ।) (ब्रह्म प्राप्ति के साधन सद्विद्या, दहर विद्या आदि का समुच्चय है या सभी विद्यायें विकल्प रूप हैं ? ऐसी शंका होने पर सूत्रकार (३।३।५७) सूत्र में बतलाते हैं कि) ये सभी विद्याएं विकल्परूप ही है क्योंकि उन सबों का फल (ब्रह्मप्राप्ति रूप) समान ही है । वाक्यकार भी सगुण ब्रह्म को ही उपास्य तथा दहरादि विद्याओं को विकल्प बतलाते हुए कहते हैं ।

'युक्तं तद्गुणकोपासनात्–' (अर्थात् गुणयुक्त ही ब्रह्म प्राप्य है क्योंकि सगुण ब्रह्म की ही उपासना की जाती है। यहाँ पर उन्होंने दहरादि विद्याओं को विकल्प रूप से भी बतलाया है।) इसका भाष्य द्रमिडभाष्यकार 'यद्यपि सच्चित्त' इत्यादि वाक्य से किये हैं। (वह वाक्य इस तरह से है– 'यद्यपि सच्चितो न निर्भुग्नदैवतं गुणगणं मनसानुधावेत् तथाप्यान्तर्गुणामेव देवतां भजते, तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यत इति' इस वाक्य का अर्थ है कि अपहत पाप्मत्वादि गुण अपने आश्रय परब्रह्म से भिन्न हैं। यद्यपि सद् विद्यानिष्ठ व्यक्ति के तरह दहर विद्यानिष्ठ व्यक्ति उसकी उपासना नहीं कर सकता, फिर भी गुण युक्त देवता की ही वह उपासना करता है। उस विद्या में भी देवता सगुण ही है और उसी की ही प्राप्ति होती है।)

(अब प्रश्न यह उठता है कि यदि उपास्य ब्रह्म सगुण है तथा उपासक और उपास्य का भेद स्वाभाविक है, उस हालत में 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' श्रुति की क्या हालत होगी ? तो इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–) ब्रह्मवेद श्रुति की भी 'प्राकृतिक नाम रूप से रहित मुक्तजीव दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेता है' 'दोष रहित मुक्तात्मा परमात्मा के अत्यन्त समान हो जाता है' 'उस परं पद को प्राप्तकर जीव अपने (आविर्भूत गुणाष्टक) स्वरूप को प्राप्तकर लेता है। इन सभी श्रुतियों से एकार्थता होने के कारण, इस श्रुति में भी प्राकृत नाम और रूप से रहित तथा नाम और रूप के कारण परस्पर जीवों में होने वाले भेदों

से रहित ज्ञान मात्र स्वरूप होने के कारण ब्रह्म के प्रकार रूप से जीव को बतलाया जा रहा है। और प्रकार (विशेषण) की एकता होने पर उनमें अभेद व्यवहार कोमुख्य व्यवहार ही मानना होगा। उदाहरणार्थ–यह वही गौ है (जिसे मैंने पहले देखा था। यह अभेद व्यवहार रूप की एकता के ही कारण होता है।)

यह जीव और ब्रह्म का साम्योपदेश केवल मुक्तों के स्वरूपापादक प्रकरणान्तरों में ही नहीं मिलता अपितु) श्री विष्णु पुराण में भी मिलता है– जैसे (६।७।६३) श्लोक बतलाता है कि) हे राजन् वह तैलधारावद् अविच्छिन्न स्मृति सन्तान रूप ज्ञान परंब्रह्म की प्राप्ति का साधन तथा परं ब्रह्म प्राप्य है। जिस तरह ब्रह्म प्राप्थ है उसी तरह ब्रह्म के ही समान भावना त्रय रहित भगवान् की उपासना करने वाली आत्मा प्राप्त करने योग्य है।' इस श्लोक में– परं ब्रह्म के ध्यान के द्वारा कर्मभावना ब्रह्मभावना उभयभावना, इन तीनों भावनाओं से रहित होने के कारण ब्रह्म के ही समान शुद्ध आत्मा प्राप्य है– यह कहकर (वि० पु० ६।७।६४) श्लोकों में कहते हैं कि– अनादि काल से क्षेत्र रूपी माया के 'सत्वादि गुणों में भूलकर अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण) क्षेत्रज्ञावस्थ जीव ब्रह्म प्राप्ति के साधन ज्ञान से युक्त है तथा परं ब्रह्मध्यान रूप ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति का साधकतम है। मुक्ति रूपी कार्य को सिद्धि कर परंब्रह्म ध्यान स्वरूप उसका वह ज्ञानरूपी साधन सफल हो जाता है तथा उससे निवर्तित हो जाता है। अर्थात् भावनात्रय के नष्ट हो जाने से आविर्भूतगुणाष्टक आत्म स्वरूप

की प्राप्ति हो जाने के कारण परंब्रह्म ध्यानरूप साधन के सफल हो जाने से उसकी जो निवृति बतलायी गयी है, उसका अभिप्राय है कि आजीवन अनुष्ठान करते रहना चाहिये।

इसके पश्चात् (६।७।१५) इस श्लोक में मुक्तजीवों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि– परंब्रह्म के ही समान आविर्भूतगुणाष्टक होकर जीव ज्ञानानन्द होने के कारण ब्रह्म के ही समान आकार वाला हो जाता है और जीवात्मा और परमात्मा में भेद तो अज्ञान के कारण होता है।

इस श्लोक में तद्भावशब्द ब्रह्म के स्वभाव का वाचक है स्वरूपैक्य का वाचक नहीं, स्वरूपैक्य का वाचक मानने पर "तद्भावभावमापन्नः' इस शब्द के दुसरेभाव श द का अन्वय नहीं हो पायेगा। तथा पूर्वोक्त अर्थ का विरोध होगा। ब्रह्म की प्रक्षीणा शेष भावनात्व है, उस स्वभाव को प्राप्त होना ही तद्भावभावापन्नता कहलाती है। उस स्वभाव को प्राप्त कर लेने पर जीव का परमात्मा से अभेद हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ज्ञान स्वरूप होने के कारण दोनों में आकर का अभेद है। देव इत्यादि शरीर के कारण जीवात्मा और परमात्मा के आकार में भेद होता है। जब परंब्रह्म के ध्यान से उसका अज्ञान रूप कर्म नष्ट हो जाता है, तो वह देवादि भेद नष्ट हो जाता है। अतएव जीवात्मा परमात्मा से अभेदी हो जाता है।

यथोक्तम्—

मूल--एक स्वरूपभेदस्तु बाह्यकर्म प्रवृत्तिजः।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणो हि सः॥
(वि०पु० २।१४।३३) इति।

एतदेव विवृणोति-- 'विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥इति। विभेदः = विविधो भेदः, देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकः। यथोक्तं शौनकेनापि— "चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञान निबन्धनः।" (वि० धर्मो० १००।११) आत्मनि ज्ञान-रूपे देवादिरूपविविधभेद हेतुभूत कर्माख्याज्ञाने परब्रह्म ध्यानेनात्यन्तिकनाशं गते सति हेत्वभावादसन्तं परस्माद् ब्रह्मण आत्मनो देवादि रूपभेदं कः करिष्यतीत्यर्थः। 'अविद्या कर्मसंज्ञान्या' इति ह्यत्रैवोक्तम्। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यन्तर्यामिरूपेण सर्वस्यात्मतयैक्याभिधानम् अन्यथा— 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादिभिर्विरोधः। अन्तर्यामि रूपेण सर्वेषामात्मत्वं तत्रैव भगवताऽभिहितम्। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद् देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी० १८।६१)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ।' (गी० १५।१५) इति च । 'अहमात्मागुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।' इति च । तदेवोच्यते । भूतशब्दो ह्यात्मपर्यन्तदेहवचनः । यतः सर्वेषामयमात्मा ततएव सर्वेषां तच्छरीरतया पृथगवस्थानं प्रतिषिध्यते 'न तदस्ति विना यत्स्यात्' इति, भगवद्विभूत्युपसंहारश्चायमिति तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् । तत इदमुच्यते— 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश सम्भवम् ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।' इति

(गी० १०।४१।४२)

अतः शास्त्रेषु न निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनमस्ति । नाप्यर्थ जातस्य भ्रान्तत्व प्रतिपादनम् । नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेद निषेधः ।

अनुवाद— जैसा कि (श्री विष्णुपुराण के २।१४।३३ श्लोकों में) कहा गया है कि समान आकार वाले आत्माओं में जो भेद प्रतीत होता है वह बाह्य कर्म जन्य देव आदि शरीर के कारणही होता है, देव आदि भेद के नष्ट हो जाने पर आत्मा आवरण रूपी देव आदि शरीर भेदों से रहित हो जाता है । 'त्रिभेद जनके ज्ञाने' इत्यादि श्लोक के द्वारा इसी की व्याख्या की गयी है । वह इस तरह से कि— देव आदि विविध भेदों के जनक ज्ञान का आत्य-

न्तिक (विल्कुल) नाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा दोनों के (समान आकार वाले होने के कारण) उनमें अविद्यमान भेद को कौन उत्पन्न कर सकता है ?

इस श्लोक में विभेद शब्द अनेक देव, तिर्यक (पशु पक्षि) मनुष्य और स्थावर जीवों का वाचक है। जैसा कि श्री विष्णु धर्म नामक ग्रन्थ में श्री शौनक ने भी कहा है- देव, मनुष्य स्थावर एवं तिर्यक् यह चार प्रकार का जो जीवों का भेद प्रतीत होता है वह मिथ्याज्ञान (आत्मा के विषय में होने वाले भ्रान्ति ज्ञान) के कारण होता है। (इस तरह उपर्युक्त-एक स्वरूप आत्मा में होने वाले देव, तिर्यक् आदि रूप से अनेक भेदों के कारणभूत कर्म नामक अज्ञान के परंब्रह्म के ध्यान के द्वारा नष्ट हो जाने पर देवादि भेद की प्रतीति के हेतु भूत अज्ञान के अभाव के कारण समानाकारक परंब्रह्म से आत्माओं का देवादि रूप से भेद कौन कर सकता है ? यहाँ पर कहा गया है कि कर्म नाम की अविद्या शक्ति परंब्रह्म की तीसरी शक्ति है।

गीता के तेरहवें अध्याय में स्वयं भगवान् ने 'मुझे ही क्षेत्रज्ञ जीव भी जानो' इत्यादि श्लोक में अपने को अन्तर्यामी रूप से सबों की आत्मा होने के कारण उनकी एक रूपता बतलायी है। यदि ऐसा अर्थ नहीं माना जाय तो फिर सभी देवादि बद्ध जीव क्षर हैं, समान आकार वाले नित्य मुक्त जीव अक्षर कहलाते हैं। इन दोनों से भिन्न उत्तम पुरुष, भगवान् पुरुषोत्तम हैं। इत्यादि गीता वाक्यों से विरोध होगा। गीता में ही भगवान् ने अपने को अन्तर्यामी रूप से सबों की आत्मा बतलायी है।

'हे अर्जुन ! ईश्वर का सभी जीवों के हृदय (प्रदेशस्थ आत्मा) में निवास है'।। 'मैं सबों के हृदय में प्रविष्ट हूं।' 'हे गुडाकेश ! सभी आत्मा के भीतर स्थित होने के कारण मैं सबों की आत्मा हूं।'

'सर्वभूताशयः' में भूत शब्द देह से लेकर आत्मा तक का वाचक है। चूंकि परमात्मा सबों की आत्मा है अतएव सभी प्रकार के देवादि शरीर उससे अलग नहीं रह सकते, इसी बात को कहा गया है। 'न तदस्ति विना यत् स्यात्' अर्थात्' संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो परमात्मा की व्याप्ति के बिना रह सके।' चूंकि 'एतां विभूतिं योगं च' इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होने वाला यह अध्याय भगवान् की विभूतियों का वर्णन प्रस्तुत करता है अतएव इस श्लोक में भगवान् की विभूति का उपसंहार स्वीकार करना चाहिये। इसीलिये तो गीता में कहा गया है-यद्-यद्विभूतिमत् सत्वमित्यादि-

अर्थात् जगत् में जो जो ऐश्वर्य सम्पन्न होने के कारण नियामक, भोग्य पदार्थों की समृद्धि से युक्त, बलवान, अतएव प्रशासक जीव हैं उन्हें तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझो।' 'मैं इस सम्पूर्ण जगत् में अपने एक अंश से व्याप्त होकर स्थित हूं।'

इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि शास्त्रों में निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन नहीं है और न तो सभी वस्तुओं का भ्रान्तित्व प्रतिपादन ही है और जड (प्रकृति) चेतन (जीव) एवं ईश्वर के स्वरूप में होने वाले भेद का निषेध भी नहीं है।

इस तरह जिज्ञासाधिकरण में निर्विशेष वस्तु खण्डन समाप्त हुआ।

हिन्दी श्रीभाष्य के विशिष्ट सहायक

१–अनन्त श्री विभूषित जगद् गुरु कृष्णमाचार्य स्वामी जी महाराज कांचीप्रतिवादि भयंकर पीठाधीश्वर अध्यक्ष श्री वेंकटेश देव स्थान ट्रस्ट फानसवाड़ी बम्बई १०००)

२–जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य कोशलेश सदन पीठाधीश्वर कटरा अयोध्या [उत्तर प्रदेश] १००१)

३–श्री १००८ श्री महान्त राजेन्द्राचार्यजी महाराज अध्यक्ष नरगदा मठ पो० विलौंटी जि० भोजपुर (विहार) ५०१)

५–श्री १००८ श्री महान्त कमलाकान्ताचार्यजी उत्तर तोताद्रिमठ अयोध्या [उ० प्र०] ५०१)

६–श्री रामप्रियाशरण, वेदान्ताचार्य एम० ए०, लक्ष्मण किला, अयोध्या, ५०१)

७–श्री राममूर्तिदास, वेदान्ताचार्य, साकचौक, नयाघाट, अयोध्या, ५०१)

४–श्री १००८ श्री महान्त सुदर्शनाचार्य स्वामी श्रीपादसेवक वेणु गोपाल मन्दिर वृद्ध खैरा पो० मोरमा कलां जिला पलामू (विहार) २५१)

८–श्री १००८ श्री महान्त राघवाचार्यजी महराज श्रीरामानुजाचार्य मठ देवघाट [गया] २५१)

९–श्री १००८ श्री महान्त नारायणाचार्यजी मुमुक्ष पत्ता ए १०।८४ श्रीलक्ष्मी नरसिंह मन्दिर यतिराज भवन प्रह्लादघाट वाराणसी २५१)

हिन्दी श्रीभाष्य के १०१ रुपये के ग्राहकों के नाम

१–श्री १००८ श्री महान्त गरुड़ध्वजाचार्य जीयर मठ पुरी उड़ीसा

२–श्रीमान सरयू हजारी शर्मा ग्राम पो० डुमरिया बुजुर्ग (भया) परवत्ता जिला मुंगेर विहार।

३–डा० रामनिवास चण्डक सविता ट्रेडर्स ६।१।६३०।५ सविता सदन, खैरतावाद, हैदरावाद ४।

४–श्रीजुगल किशोर जगनानी, श्याम जी ट्रेडिंग कम्पनी, बेडीगेट जाम नगर गुजरात।

५–सुश्री मीरा वाई जी विश्वरूप वस्त्रालय वराकर पश्चिमी बंगाल।

६–सु श्री जानकी वाई जी, कोशलेश सदन, कटरा, अयोध्या।

७–श्रीशिवदत्त राय सन्तोष ब्रादर्स २०१ वी० महात्मा गाँधी रोड कलकत्ता ७।

८–श्री वुद्धदेव जायसवाल लक्ष्मीगंज देवरिया (उ० प्र०)।

९–श्री विजयनारायण सिंह ग्राम कैलावर पोस्ट मथेला वाराणसी

१०–श्रीमान् पं० राजपति शुक्ल श्री धर्म समाज सं० महा विद्यालय मुजफ्फरपुर (विहार)

११–श्री गिन्नी वाई शर्मा, लक्ष्मण किला, अयोध्या।

१२–श्री स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य, विनिगांवा, पो०-वन्धू छपरा, जिला-भोजपुर।

१३–राष्ट्र संत दामोदर श्रीनिवासाचार्य, हनुमान मंदिर, दशाश्वमेध घाट, दारागंज, प्रयाग।

१४–महावीर प्रसादजी रुंगटा, नेचुवाँ पो०-जलालपुर, गोपालगंज विहार।

१५–श्री स्वामी हरिप्रपन्नाचार्यजी, चरित्रवन, बक्सर, विहार।

१६–श्री पं० शोभनाथ तिवारीजी, चिलहर, जिला भोजपुर।

१७–श्रीमान् ठाकुर शारदाप्रसाद सिंहजी, पपौरा, सकलडीहा,वारा०

१८–श्री रमाकान्ताचार्य, श्री कोशलेश सदन, कटरा, अयोध्या।

१९–श्री १००८ श्रीमहान्त देवनायकाचार्यजी, तोताद्रिमठ, स्वर्गद्वार अयोध्या।

२०–श्री १००८ श्रीस्वामी रामनुभग शास्त्रीजी, राममहल, कटरा, अ०

२१–श्री १००८ श्री स्वामी नृत्यगोपाल दासजी, म० श्री मणिराम दासजी की छावनी, अयोध्या।

२२–श्री मोहनलाल भण्डारी, ३६४ शाकरपेट, सोलापुर-२ महाराष्ट्र

२३–श्री तुलसीराम घनश्यामदास धूत, पलटण गली, सोलापुर-२।

२४–श्री गोविन्दलाल राधाकिशन, दरगड, पलटणगली, सोलापुर-२

२५–श्री नन्दकिशोर, श्रीनिवासकाबरा, सिद्धेश्वर मार्केट, सोलापुर

२६–श्री नारायणदास भण्डारी, कोरेगांव, जिला सातारा, महाराष्ट्र

२७–श्री जयनारायणदास भण्डारी, „ „ „

२८–श्री भण्डारी क्लाथ इम्पोरियम, „ „ „

२९–श्रीरामविलास तोपर्णीवाल, अनसूयाबाई, जोधराज, रमाकिशन मु० वकारभाग, सांगली, महाराष्ट्र।

३०–मोहनलाल मेघराज काबरा, फर्म–मोहनलाल हरिकिशन काबरा वकार भाग, सांगली, महाराष्ट्र।

३१—मेसर्स— मर्दा ट्रेडिंग कम्पनी, वकार भाग, सांगली, महाराष्ट्र।

३२—श्री कुञ्ज विहारीजी मूंदड़ा, आई' टाइप' न० १७ वांगड़नगर दाण्डेली एन० आर० पिन० ५८१३६२।

३३—श्री निवासजी मारू, आई० टाइप न० ७ वांगड़ नगर दाण्डेली

३४—श्री मदनलाल जी मारू, आई० टाइप न० ११, वांगड़ नगर दाण्डेली।

३५—श्री बालमुकुन्द रामचन्द्र असावा, पलवर बाजार, बल्लारी, कर्णाटक।

३६—श्री युगलकिशोर सारडा, राधाकृष्ण इण्डस्ट्रीज बल्लारी, कर्णाटक

३७—श्री वन्शील.ल रन्धर, न० ७६ आर० टी० स्ट्रीट बंगलोर-२ ए

३८—श्री रन्धर इण्टर प्राइजेज, एवेन्यू रोड क्रास, बंगलोर-२

३९—श्री १००८ श्री म० गोपालाचार्यजी महाराज, लक्ष्मीनारायण मन्दिर, उत्तराद्धि मठ, वेस्ट मध्य स्ट्रीट, तिरुमाला हिल्स, चित्तूर, (ए० पी०)

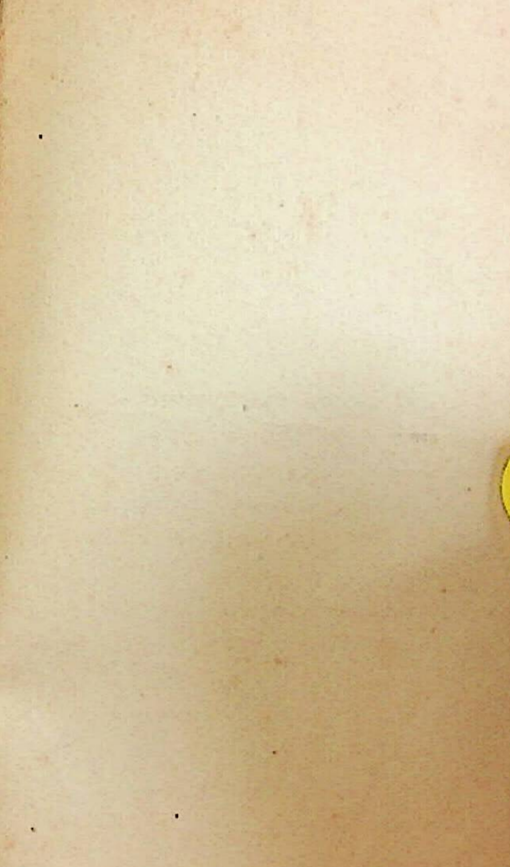
४०—श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, केन्द्रीय सं० विद्यालय, तिरुपत्ति ए० पी०

४१—श्री स्वामी धनुर्धराचार्य, सऊथ उत्तर स्ट्रीट, श्री रङ्गम ट्रीची पीन० ६२०००६।

४२—श्री १००८ श्री स्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य जी, राधा कृष्ण मन्दिर, न० १८० बाइनाबाजर रोड, मद्रास, तमिलनाडु।

४३—श्रीमान् सेट जेठमल, लक्ष्मी निवास जी तापड़िया, मु०पो० सेडम जिला गुलवर्गा, कर्णाटक।

क्रमश:



* पुस्तक प्राप्ति स्थान *



१:— हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति

श्याम सदन, मु०-कटरा, पो०-अयोध्या, जि०-फैजाबाद (उ० प्र०)

२:— जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्यजी

श्रीकोशलेश सदन, कटरा, पो०-अयोध्या, जि०-फैजाबाद (उ०प्र०)

३:— श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री

पुरानी मसजेदी, पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०-अयोध्या जिला-फैजाबाद

श्याम मुद्रणालय, कटरा, अयोध्या

श्रीमते रामानुजाय नमः   श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद—श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

हिन्दी श्रीभाष्य

[चतुर्थ भाग]

मङ्गलक:-
जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्य जी
महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष, श्रीहनुमत सं० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	कार्तिक पूर्णिमा
१०००	४ रुपया	२०३४ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक